

सहजानंद शास्त्रमाला

आत्मानुशासन

द्वितीय भाग

(श्लोक 31-55)

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी “सहजानन्द” महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्यवर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरुतर कार्य किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक 'आत्मानुशासन द्वितीय भाग' अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्रीमनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शेली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को <http://www.sahjanandvarnishastra.org/> वेबसाइट पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थको पुनः प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे। इसी ग्रन्थ की PDF फाइल www.jainkosh.org पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में श्री माणकचंद हीरालाल दिग्म्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। ग्रन्थ के टंकण कार्य में श्रीमती मनोरमाजी राहिंज, गांधीनगर एवं प्रूफिंग करने हेतु श्री रोहित पाटनी, इन्दौर का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छावड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड़

इन्दौर (म०प्र०)

Phone:94066-82889

[Email-vikasnd@gmail.com](mailto>Email-vikasnd@gmail.com)

www.jainkosh.org

Contents

प्रकाशकीय	2
१लोक (३१).....	5
१लोक (३२).....	9
१लोक (३३).....	14
१लोक (३४).....	18
१लोक (३५).....	22
१लोक (३६).....	27
१लोक (३७).....	32
१लोक (३८).....	37
१लोक (३९).....	42
१लोक (४०).....	47
१लोक (४१).....	51
१लोक (४२).....	56
१लोक (४३).....	60
१लोक (४४).....	64
१लोक (४५).....	68
१लोक (४६).....	72
१लोक (४७).....	77
१लोक (४८).....	81
१लोक (४९).....	86
१लोक (५०).....	90
१लोक (५१).....	95
१लोक (५२).....	99
१लोक (५३).....	104

१लोक (५४).....	109
२लोक (५५).....	113

आत्मानुशासन

द्वितीय भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुलक मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज
लक्ष्मीनिवासनिलयं विलीनविलयं विधाय हृदि वीरम ।
आत्मानुशासनमहं वक्ष्ये मोक्षाय भव्यानाम् ॥ १ ॥

श्लोक (३१)

पुण्यं कुरुष्व कृतपुण्यमनीदशोऽपि
नोपद्रवोऽभिभवति प्रभवेच्च भूत्यै ।
संतापयन् जगदशेषमशीतरश्मिः
पद्मेषु पश्य विदधाति विकासलक्ष्मीम् ॥ ३१ ॥

पुण्यभाव करने का आदेश—हे भव्य आत्मन् ! तुम पुण्य को करो । जिसने पुण्य किया है उस पुरुष के बहुत कठिन उपद्रव जिनको कभी देखा भी न हो, ऐसे भी कठिन उपद्रव विभूति के लिए होते हैं । देखो यह अशीतरश्मि अर्थात् तीक्ष्ण गर्म जिसकी किरणें हैं—ऐसा यह सूर्य सारे जगत में संताप पैदा करता है, लेकिन वही सूर्य क्या कमलों में विकास लक्ष्मी को नहीं धारण करता है? इस छंद में पुण्य करने का उपदेश दिया गया है । पुण्य का अर्थ है—पवित्र काम । शुभ यत्र करते हुए शुभ भाव करो । जो जिस स्थिति में है, वह अपनी स्थिति के लायक पुण्य का अर्थ समझ सकता है । यह उपदेश एक सर्वसाधारण के लिए भी है और असाधारण पुरुषों के लिए भी है ।

पुण्यभाव का आधार अन्तःनिर्मलता—देखो पुण्य कब किसके बनता है? उसी के उत्कृष्ट पुण्य बनता है, जो विकाररहित होने की उत्कृष्ट रखता है । अविकार स्वभाव की ओर जिसकी दृष्टि रहती है, परिणामों में पवित्रता जिसके आती है । कषाय भी मन्द हों—ऐसे पुरुष के ही तो उत्कृष्ट द्रव्य पुण्य बंधता है । तो पुण्य करो । इसका अर्थ यह नहीं है कि द्रव्यपुण्य को बांध लो । द्रव्यपुण्य की तो खबर नहीं है । द्रव्यपुण्य बांधे बंधता भी नहीं । आत्मा का अधिकार केवल अपने परिणाम पर है । अपने परिणाम को विकाररहित होने के लिए कहा जा रहा है । जो पुरुष विकाररहित होता है । विकारों में जिसकी रुचि नहीं, अविकारस्वभाव ज्ञायकस्वरूप में अपने उपयोग को लगाने रूप तपस्या कर रहा है और काम, ऋग, मान, माया, लोभ आदि इन कषायों से जो अपने को बचाये रखता है—ऐसा आत्मा अन्तःप्रसन्न रहता है और जो कषाय करे, वह पराधीन रहता है ।

राग का विकट बन्धन—भैया ! अनुभव से भी देख लो कि राग और मोह का कितना कठिन बन्धन है ?

कोई आपको रस्सी से बांधे भी नहीं, आप अपने इसी देह-देवालय में विराजे हैं, न कोई आपको पकड़े हैं, न रोके हैं, न आपके साथ कोई २४ घण्टे लगा फिरता है, लेकिन राग का बन्धन अन्तर में ऐसा विकट है कि छोड़कर कहीं जा नहीं पाते। बन्धन का काम यह है कि एक खूंटे पर रोके रहना। घर की खूंटी पर रोकने वालों के लिए कौन सा बन्धन है? देखने में तो कुछ आता नहीं, सब अपने-अपने देह को लिए अलग-अलग बैठे हैं; पर भीतर में जो स्नेह पड़ा हुआ है उस राग का ऐसा विकट बन्धन है कि उस बन्धन से हिलडुल नहीं सकता। कहां जाए? खूंटे से बन्धा हुआ जानवर तो खूंटे की तरफ देखता भी नहीं है। खूंटे से बाहर की ओर ही अपना मुख करता है, पर यहाँ का खूंटा तो ऐसा दृढ़ है कि मुख खूंटे की ओर ही रहा करता है। खूंटे से बाहर की ओर देखता भी नहीं है। इस प्रकार का विकट राग का बन्धन है और उसी बन्धन के मूल पर आए हुए क्रोधादिक विकारी सभी बन्धन इस जीव को आसक्त बनाये हुए हैं।

निर्विकार साम्यभाव की वृत्ति के लिए यत्र—हे आत्मन्! ! तू अविकार स्वभाव की ओर, अविकार वृत्ति की ओर झुक और यत्र कर। तेरे में वह निर्मलता प्रकट होगी। जिसमें वह आनन्द आता है जो तीन लोक के वैभव भी सामने आए, अधिकार में हों, वहाँ मी वह आनन्द नहीं प्राप्त होता है। देखो यदि शुद्ध हृदय है, उपयोग विशुद्ध है, सभी जीवों के प्रति मित्रता का भाव है, किसी जीव के प्रति विरोध का परिणाम जगता ही नहीं है वहाँ पर अन्तःप्रसन्नता रहती है। कहां है कुछ विरोध? सभी स्वतंत्र हैं। अपना परिणमन लिए हुए हैं, अपनी योग्यता के अनुसार वे परिणमते हैं। मेरा कौन विरोधी है? कोई गाली देता हो, अटपट बकता हो, तेरे में अश्रद्धा रखता हो, अप्रीति करता हो तो यह समझ कि जिसकी जैसी योग्यता है, वह अपनी योग्यता के अनुसार ही तो अपने परिणमन बनायेगा तेरे लिए कुछ नहीं कर रहा है। जिसके पास जो है वही तो दे सकता है, यह भी ध्यान रख। अगर तुझे कोई गाली देता है, तेरे प्रतिकूल कुछ द्वेष उपजाता है तो समझ कि उसके पास जो है, सो कर रहा है और तेरे पास जो है सो तु कर। उस द्वेष की बात को सुनकर तेरे पास भी द्वेष का भण्डार भरा हो तो तू भी द्वेष कर। तू भी अपने में ही द्वेष करेगा, दूसरा भी अपने में ही द्वेष कर रहा है। अरे ! निर्विकार के क्षेत्र में तो आ। बड़े-बड़े उपद्रव भी तेरे लिए वैभव बन जायेंगे।

वर्तमान दृष्ट त्यागभाव का महत्त्व—भैया ! अभी की भारत की ही बात देख लो, जब भारत स्वतंत्र न था, स्वतंत्रता के लिए आन्दोलन चल रहा था, नेता लोग कितने शुद्ध चित्त और तपःप्रिय बड़े संकटों को सहने की शक्ति वाले जन-जन के उपकार की वाञ्छा रख रहे थे उस समय उनके लिए उपद्रव भी विभूति बन रहे थे। अरे जिसे अधिकांश लोग भला मानें वही तो विभूति है। वे निर्मल चित्त थे उसका प्रसाद था। अब स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद परिग्रहसंचय की बुद्धि आने लगी तो अब आज हालत देख लीजिए, किसके हृदय में उनके लिए घर है। देश में, गांव में, घर में जो पुरुष उदार है, निष्काम है, असत्य आदिक से परे है उसका जीवन देख लीजिए कितना सुखमय है और जो अपने मन में छल द्वेष दम्भ रखता है उसके जीवन को निरख लीजिए। अरे आनन्द चाहिए तो जैसे आनन्द मिलता है उस पद्धति से अपनी वृत्ति बना।

पुण्योदय में उपद्रव भी विभूति का कारण—भैया ! चाहिए तो आनन्द और दुःख पाने के करतब कर रहे

हैं तो आनन्द कहां से आयेगा? आनन्द मिलेगा निर्माह और निष्कपाय होने से। मोह से उत्पन्न हुए दुःख को मिटाने के लिए मोहीजन मोह का ही काम करते हैं। राग से उत्पन्न हुए दुःख को मिटाने के लिए रागीजन राग का ही काम करते हैं। कैसे आनन्द का विधान बने, पुण्य करें अर्थात् पवित्र हों, आत्मपवित्रता के बिना सारे उपद्रव उपद्रव हैं और जो पवित्र चित्त है उसके लिए उपद्रव भी वैभव है। मरुभूति और कमठ का भव-भव का प्रसंग निरखें तो यहाँ यह देखने को मिलेगा कि मरुभूति के जीवने पवित्रता का घात नहीं किया और कमठ के जीव ने अपने अपवित्र भावों का त्याग नहीं किया। हुआ क्या, दुःख हुए, उपद्रव हुए मरुभूति पर, पर वह समय तो ठल ही गया। काहे का उपद्रव? वे समस्त उपद्रव उनकी विभूति के लिए हुए। उनका आत्मा निर्वाण पधारा। उनके उपद्रवों के और उपद्रवों को समता से सहने के पुराण बन गए। आज लोग बड़ी भक्तिभाव से उनके उपद्रवों के पुराण पढ़ते हैं और उन्हें पूज्य और आदर की दृष्टि से निरखते हैं।

दृष्टान्तपूर्वक उपद्रव की विभूतिकारणता का समर्थन—सूर्य का आताप एक उपद्रववत् है। आजकल थाड़ी ठंड है, इससे कुछ समझ में न आ रहा होगा। बैसाख जेठ में जब ऐसा लगता है कि सुबह एक घंटा ही दिन चढ़ा तो जान छुपाने की पड़ती है, बड़े ठंडे-ठंडे मकान बना लिए जाते हैं। इतना बड़ा आताप फैलाने वाला सूर्य उन दिनों में भी कमलों को प्रफुल्लित करता है और सूर्य के अस्त होने पर वे कमल संकुचित होने लगते हैं। जैसे स्वर्ण जितना उष्ण गर्मी में अग्नि में तपाया जाता है उतना ही वह विशुद्धि और कान्ति लाता है। यों ही यह चेतन अपने आपमें सत्य का आग्रह किए हो और इतने पर भी सांसारिक उपद्रव आ रहे हों तो उन उपद्रवों के सहन करने की क्षमता बनानी चाहिए। यह प्रमादी आराम-आराम ही पसंद करे, कष्ट से डरकर अपने आराम की साधना बनाए तो इसमें वह आत्मक्रान्ति और आत्मशान्ति भी मिलना कठिन है, क्योंकि आराम के साधनों की भीतर में रुचि पड़ी हुई है और जहाँ देह और इन्द्रिय के भोगों के साधनों की रुचि है वहाँ स्वरूप की रुचि कहां से प्रकट होगी अपना रहनसहन भोजन सब इस प्रकार का होना चाहिए जो आराम और आसक्ति की रुचि को करने वाला न हो। यही पवित्रता है कि अपने आप में विकार न बस सके।

उपसर्ग की प्रकृति—उपसर्ग दुःखों को देता है। सब लोग उससे घबड़ाते हैं, पर पुण्यवान् को उपसर्ग दुःख देने में भी समर्थ नहीं है। उपसर्ग हुलिया बिगाड़ देते हैं, लोग कहते हैं, और संस्कृत भाषा जानने वाले लोग जानते हैं कि उपसर्ग के जो ये प्र, परा, अप, सम, अनु, अब, निस्, निर, दुस्, दूर, वि, आड़, नि, अधि, उत्, सु, अभि, प्रति, परि, उप इत्यादिक शब्द हैं वे सब उपसर्ग कहलाते हैं। ये मूल शब्द नहीं हैं। जैसे हार यह तो धातु से बना हुआ शब्द है, पर आहार, विहार, निहार, प्रहार, उपहार, संहार, अवहार, उद्धार, प्रतिहार—ये शब्द उपसर्ग से मिले हुए हैं। उपसर्ग के शब्द शुद्ध धातु के साथ जुड़ गए तो उस क्रिया की हुलिया ही बिगाड़ दी। हार का अर्थ तो हरण करना है। उपहार का अर्थ है भेंट। देखो हार का जो असली अर्थ है उसकी मिट्टी पलीत कर दी उपसर्ग के शब्द ने जुड़कर। इसी कारण इन शब्दों का नाम उपसर्ग रक्खा है। ये उपसर्ग जिस क्रिया में जुट जायें उस क्रिया की मिट्टी छेत देते हैं। विहार का अर्थ है

चलना, प्रहार का अर्थ मारना, संहार का अर्थ है नाश करना, यों और भी समझिये ऐसे ही मनुष्यकृत, तिर्यज्ज्वकृत, देवकृत, ये उपसर्ग भी बड़े कठोर होते हैं। बड़े साहसी पुरुष इन उपसर्गों के होने पर भी दुःखी नहीं होते हैं। ऐसे कठिन उपसर्ग भी साहसी पुरुषों को दुःख देने में समर्थ नहीं है।

पुण्य की प्रकृति—जैसे सूर्य जगतभर को आताप उत्पन्न करता है लेकिन कमल को प्रफुल्लित करता है। एक दृष्टान्त दिया गया है। दृष्टान्त उत्कृष्ट दिया जाता है। गर्मी के दिनों में खेतों में कटीले झाड़ खड़े हो जाते हैं वे भी हरियाते हैं, पर उनकी कोई खबर नहीं लेता। दृष्टान्त में उत्कृष्ट ही बताया जाता है। ये पद्मकमल कितने कोमल पत्ते हैं, इनके कितने कोमल फूल के ढक्कन, फूल के पत्ते और परगां भी कितने कोमल हैं, किन्तु सूर्य के आताप के प्रसंग में भी वे फूले रहते हैं। यों ही पुण्यवान पुरुष भी बहुत कोमल होते हैं, पर कठोर भी बहुत होते हैं, उनका अंतरङ्ग कोमल है पर क्षमता, सहनशक्ति, उपद्रवों का झेलना इनके लिए वे कठोर रहते हैं। ये उपसर्ग और उपद्रव पुण्यवानों को दुःख देने में समर्थ नहीं है। उपद्रव तो पापिष्ठ पुरुषों को ही दुःख देने का कारण है।

इसका कारण कलुषित वृत्ति—जैसे धन कम हो गया तो यह स्थिति किन्हें दुःख देगी? जिन्हें धन में आसक्ति है और जिन्हें धन में आसक्ति नहीं है उनकी धनहानि दुःख का कारण नहीं बन सकती। जो अभिलाषा करे, पाप करे, उसको ही ये उपद्रव दुःख देने में समर्थ है। सोचो जरा, दुःख है कहां? दुःख है अपने अशुभोपयोग में खोटा चित्त बनाया, उपयोग बनाया चित्त को कलुषित कर लिया तो अपने को दुःख होना प्राकृतिक ही बात है। परपदार्थ का दुःख देना काम नहीं है, वह पुरुष इसी ढंग से ही चल रहा है कि उसे दुःखी होना ही चाहिए।

क्लेशविनाश का सुगम उपाय—किसी भी घटना को सामने रख लो, किसको आप दुःख बोलते हो? अजी साहब मुकदमा लग गया है। ८-१० हजार की जायदाद का सवाल है। हार जायेंगे तो यह निकल जायेगी। इस समय बड़ी परेशानी है। अच्छा तुम्हें परेशानी मिटाना है तो सत्य ज्ञान बना लो। मेरे आत्मा का तो मेरा आत्मस्वरूप ही है, अन्य तो मेरा कुछ है ही नहीं, बल्कि उसकी ओर लगाव होने से बरबादी और हो रही है। जरा तुल जावो इस सद्बुद्धि पर संकट मिटाने में कौन सी परेशानी है, बतावो। जनहानि हो गई, मेरा बड़ा इष्ट था गुजर गया, अब कैसे समय कटेगा? वह मुझे भी बहुत प्रेम करता था। अब क्या करें? अरे क्यों परेशानी सहते हो, सम्यग्ज्ञान का शरण लो। खुद ही खुद के लिए शरण है। कैसा यह ज्ञानानन्द का निधान हैं, स्वयं प्रभु है, स्वयंभू है। जरा अपने स्वरूप की ओर दृष्टि करो, सारा क्लेश मिट जायेगा। क्लेश कुछ है नहीं। क्लेश तो बना-बनाकर किया जाता है और आनन्द सहज आता है, पर बना-बनाकर किया जाने वाला कष्ट तो इस मोही को सुगम लगता है और सहजस्वरूप दृष्टि करना भर भी इसे दूभर हो रहा है।

आत्मसम्पत्ति—हे भव्य आत्मन्! पवित्र परिणाम को करो, यही तेरी अचूक सम्पत्ति है। यदि पापों का निरोध होता है, पाप रुक जाते हैं तो इससे बढ़कर और सम्पदा कुछ नहीं है, अन्य सम्पदावों से फिर क्या

प्रयोजन है? सबसे बड़ी सम्पदा तो मिल गयी जिससे तत्काल शान्ति का अनुभव होता रहेगा और यदि पाप न रुके, विकार मोह रागद्वेष विरोध ये सब चल रहे हों और अन्य सम्पदा लाखों की भी मिले, करोड़ों की भी मिले तो उससे क्या लाभ होगा, क्या मतलब सिद्ध होगा? दुःख ही तो है। जैसे कोई पुरुष घर-घर में परस्पर लड़ रहे हों, बड़ी कषाय जग गयी हो, भाई-भाई में सास बहु में? देरानी, जेठानी में और है बड़े धनी, कई-कई खंड के महल हैं, बड़ी सम्पदा है, नौकर चाकर हजूरी में खड़े हैं, पर वे झगड़ालू पुरुष बड़े भयावह हो रहे हैं, फिर सम्पदा से क्या सुख मिला और कोई गरीब भाई-भाई बहू सास एक दूसरे के दुःख में सहानुभूति रख रहे हैं, गरीबी के दुःख में कभी भूखे रहने का, कम साधन होने का क्लेश है तो खुद का क्लेश दबा लेंगे और दूसरों को क्लेश का अनुभव नहीं होने देंगे। इस प्रकार की सहानुभूति दिखायेंगे तो वहां देख लो वे सब सुखी हैं।

पावन परिणाम से आत्मोन्नति के कर्तव्य का स्मरण—जहाँ पवित्रता है वहाँ सुख है, जहाँ सुमति है वहाँ सम्पदा है, जहाँ कुमति है वहाँ विपत्ति है। पुण्य परिणाम करो इसके प्रताप से उपद्रव भी वैभव के लिए हो जायेगा। श्रीपाल को धवलसेठ ने समुद्र में गिराया। कुछ ही समय बाद हुआ क्या कि श्रीपाल आधे राज्य के राजा हो गए और राजपुत्री का उनसे विवाह हो गया। लौकिक सुख की बात कही जा रही है। उपद्रव भी वैभव के लिए हो जाता है। किसी का पुण्य है, आप उसका बुरा करने का यत्न अगर करें तो आपके ही यत्न के प्रसाद से उसे कुछ प्राप्ति हो जायेगी, लाभ हो जायेगा। उसको पवित्र परिणाम का बहुत सुखद परिणाम है। अपने आपको संभालो, सब जीवों से मित्रता रखो, सबके प्रति क्षमाभाव रखो, सबके सुख और हित की चिन्तना करो, अपने आपको निर्मोह निष्कषाय रखने का उद्यम करो; ऐसी पवित्रता से हो हम आप उन्नति का मार्ग प्राप्त करेंगे।

श्लोक (३२)

नेता यत्र वृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुराः सैनिकाः ।

स्वर्गो दूर्गमनुग्रहः खलु हरेरैरावणो वारणः ॥

इत्याश्चर्यबलान्वितोऽपि बलभिद्भग्नः परैः संगरे ।

तद्व्यक्तं ननु दैवमेव शरणं धिग्धिग्वृथा पौरुषम् ॥ ३२ ॥

सांसारिक समृद्धियों में दैवप्राधान्यविषयक समाधान—पूर्व श्लोक में यह बताया गया था कि हे भव्यजन ! तुम पुण्य को करो। जो पुरुष पुण्य करना है उसको कठिन उपद्रव भी आयें तो वे उपद्रव भी उसकी विभूति के कारण बनते हैं। इस बात को सुनकर एक शंकाकार यह प्रश्न करता है कि कहाँ किसी शत्रु आदि के द्वारा होने वाले उपद्रव को क्या भाग्य से रोका जायेगा ? वहाँ तो सामने लड़े, जितना बल हो अपने बल का प्रयोग करे और अपने इस पुरुषार्थ से इस उपसर्ग को दूर कर लेगा। इसमें भाग्य की क्या बात है ? उसके समाधान में यह छंद आया है, जिसमें निष्कर्षरूप में यह बताया है कि सांसारिक समृद्धि में भाग्य ही शरण

है, पुरुषार्थ को धिक्कार हो, वह व्यर्थ की चौज है ।

सांसारिक कार्य में ही देव की प्रधानता—इस प्रसंग में यह जानना कि सांसारिक किसी कार्य के सम्बंध में पुरुषार्थ और भाग्य की समस्या खड़ी की गई और उस सांसारिक कार्य की सिद्धि में यह उत्तर दिया गया है कि तुम्हारा बल कुछ काम न देगा कि शारीरिक बल से लड़ भिड़कर उस उपसर्ग को दूर कर दो । इसमें तो भाग्य ही प्रधान है, इतनी बात ध्यान में लायें । उसका यह अर्थ नहीं है कि भाग्य ही शरण है और पुरुषार्थ बेकार है । जहां मोक्षमार्ग की बात कही जाये वहां तो भावरूप पुरुषार्थ ही प्रधान है । भाग्य क्या करेगा ? भाग्य तो यदि फूट जाये तो कल्याण होगा । भाग्य हैं ये कर्म । जब ये कर्म मिट जाते हैं, फूट जाते हैं तभी तो सिद्ध पद मिलता है । लोग इसे असगुन समझते हैं । किसी से कह दिया जाये कि तेरे तो भाग्य फूट गए, तो दिया तो उसने आशीर्वाद है, पर उसे वह अकल्याण की बात समझता है । अगर भाग्य फूट जाये तो वह सिद्ध की कोटि में आ जाये ।

पुण्योदय में ही सांसारिक समृद्धि की प्राप्ति—भैया ! पुरुषार्थ ही काम देता है मोक्षमार्ग में, पर एक सांसारिक कार्य का यह जिक्र चल रहा है । यह उपद्रव भी वैभवरूप बनता है, उपद्रवों को भी टाल दिया जाता है, इस संबंध में जब यह विकल्प आए कि उपद्रवों को तो बल से टाला जायेगा । लाठी, हिथयार, बंदूक आदि का प्रयोगपूर्वक सामना करना, अपना बल दिखाना, ये कार्य किए जायें तो उपद्रव टलेंगे, उसके उत्तर में यह कह रहे हैं कि नहीं, वहां देव ही शरण है । जैसा पुण्य का उदय होगा उसके अनुसार यह लौकिक रक्षा है । उसके लिए एक दृष्टान्त बता रहे हैं कि देखो जहां वृहस्पति तो मंत्री है और हथियार वज्र है, सैनिक देव है, स्वर्ग ही किला है और ईश्वर का बड़ा अनुग्रह है, ऐरावत हाथी है, बड़ा भारी आश्चर्यकारी जिसमें बल है, तिस पर भी ऐसा भी इन्द्र दूसरों के द्वारा संग्राम में मग्न हो गया, हार गया । बल ने क्या किया ? देव ही शरण है । यह दृष्टान्त एक लोकप्रसिद्ध दृष्टान्त है । जैसे कि कोई लोग ऐसा मानते हैं कि इन्द्र को भी रावण ने हराया था । इन्द्र को भी हराने वाले रावण को राम लक्ष्मण ने जीता था, ऐसी अत्यंत प्रसिद्ध बात है, उस ही को सही नजर रखकर यह दृष्टान्त दिया जा रहा है कि देखो तो इन्द्र का कितना अद्भुत बल होता है, जिसके लड़ने वाले सैनिक लोग देवता हैं, वृहस्पति जिसके मंत्री है और वज्र जिसका हथियार है, वे भी हार गए । अब बल क्या करे, दैव ही शरण है और इस बल आदिक लगाने का यह पुरुषार्थ व्यर्थ है । प्रकरण संभाल कर सुनना है । किस दशा में और किस प्रकार के प्रकरण में यह बात कही जा रही है?

दैवसाफल्यसूचक लोकप्रसिद्धि व लोकदृश्य—भैया ! अपन सब भी यह कहते हैं कि मेहनत करने से धन पैदा नहीं किया जा सकता है और दृष्टान्त देते हैं कि मेहनत तो घसियारे, लकड़हारे बहुत करते हैं, दिन रात करते हैं, पर मुश्किल से १०) ही प्राप्त होता होगा और जो शारीरिक कुछ श्रम नहीं करते हैं, दो चार घंटे दूकान पर बैठ गए या आफिस में चले गए दूसरों पर हुकूमत जता आए, सैकड़ों हजारों की आय कर लेते हैं । तो यह बल कुछ काम नहीं करता । यह तो उनके पूर्वकृत पुण्य का ही माहात्म्य है, ऐसा बोलते हैं और

बात भी सही है कि नहीं? समस्त जीवों के जीवन मरण, सुख और दुःख ये सब उनके किए हुए पुण्य पाप के उदय के अनुसार मिलते हैं। समयसार के रचयिता कुन्दकुन्दस्वामी ने भी बंधाधिकार में यह बात स्पष्ट की है और कलशकार अमृतचन्द्र सूरि ने भी यह बात बतायी है कि जीवन सुख दुःख मरण सबका कर्मोदय के अनुसार नियत है। वहाँ यह इसलिए बताया है कि हे आत्मन्! तू जीवन मरण सुख दुःख करने कराने में कर्तृत्व बुद्धि मत कर। मैंने इसे सुख दिया अथवा दुःख दिया, इस प्रकार का कर्तृत्व का आशय मत बना। वह तो शिक्षण के लिए कहा गया है। उस ही तरह की बात यहाँ इस शिक्षण के लिए कही जा रही है कि तु लौकिक बाधाओं को मिटाने में और यहाँ की सम्पदा की प्राप्ति करने में तू बल का अभिमान न कर। बल के उद्यम से तू न अनिष्ट का नाश कर लेगा और न इष्ट का संयोग मिला लेगा, इस बात में तो दैव ही शारण है।

सांसारिक लाभ में दैव की प्रधानता का दृष्टान्त—एक कथानक है कि दो आदमियों में परस्पर में विवाद हो गया। एक बोला कि पुरुषार्थ प्रधान है और दूसरा बोला कि भाग्य प्रधान है। दोनों की लड़ाई राजा के पास पहुंची। राजा ने न्याय किया। दोनों को एक बड़े कमरे में बन्द कर दिया। कच्ची हवालात कर दी और कहा कि तुम दोनों का निर्णय परसों होगा और वहाँ पर किसी जगह दो लड्डू आध-आध सेर के छिपाकर रख दिए, ताकि ये भूखे न रहे। जिसका भाग्य होगा, पुरुषार्थ होगा तो मिल जायेगा, नहीं तो न मिलेगा। अब वे दोनों उस कमरे में बन्द हो गए। चौबीस घण्टे व्यतीत हो गए। भूख के मारे दोनों की हालत बहुत खराब हो गई। उनमें जो पुरुषार्थ वाला था वह सोचने लगा कि वह क्या करे? उसने इधर उधर देखा और देखने पर उसे एक बर्तन में दो बड़े लड्डू मिल गए। वह बहुत खुश हुआ और भाग्य वाले से बोला कि तुम बैठे रहो, देखो हमने पुरुषार्थ किया तो ये दो लड्डू मिल गए। उसमें से एक लड्डू तो उसने खुद खाया और दूसरे से भी कहा कि तू भूखा है, ले तू भी एक लड्डू ले ले। दोनों ने एक-एक लड्डू खाया। अब परसों का दिन आया। राजा के पास न्याय हुआ। राजा ने कहा कि बोलो तुम दोनों अपनी-अपनी बात। तो पुरुषार्थ वाला बोला कि महाराज! इसका भाग्य क्या करे यह तो भूखा मर जाता, अगर मैं इसे एक लड्डू नहीं खिलाता। मैंने ऐसा पुरुषार्थ किया कि यहाँ वहाँ खोजा और वहाँ दो लड्डू मिल गए। सो हमने अपना भी पेट भरा और इसको भी खाने को दिया। भाग्य वाला बोला कि महाराज! हमारे भाग्य ने ही तो हमें खाने को दिया।

उदयानुसार समृद्धि का आवागमन—भैया! ! यह तो सांसारिक कार्यों का प्रकरण है। जितनी भी सांसारिक समृद्धियां मिलती है उन सबका मिलना कर्मोदय के अनुसार है। वहाँ बल क्या करेगा कोई पुरुष बड़ा ही पहलवान हो और कहे कि इस सेठ से मैं ज्यादा बलवान हूँ, मैं ताकत से इससे कई गुना अधिक धन कमा सकता हूँ, यों उसका अहंकार करना व्यर्थ है। जैसा उदय होगा उस प्रकार की प्राप्ति होगी। देखो जिसका अनुकूल उदय होता है उसके लक्ष्मी इस प्रकार आ जाती है कि न वह कल्पना कर सकता है कि सम्पदा कैसे आ गई? न दूसरे समझ सकते हैं कि यह सम्पदा कहां से आ गयी? जैसे नारियल का फल

होता है, पेड़ के ऊपर लदे हुए नारियल के फलों के अन्दर पाव डेढ़ पाव पानी कहां से आ जाता है। उसका छिलका भी बहुत कठोर होता है। उसमें पानी यों ही आ जाता है। इसी प्रकार जब लक्ष्मी आती है तो यों ही आती है और देखा होगा कि हाथी कैथ को खा ले तो सारा रस उस कैथ का वह हाथी चूस लेता है और जब वह लीद करता है तो बेल पूरा का पूरा निकल आता है और उस कैथ में न कहीं छेद मिलेगा और न कहीं दरार मिलेगी। पूरा वैसा का ही वैसा रहता है, पर उसे उठाकर देखो तो २ तोला का भी वजन न होगा, इतना निःसार हो जाता है। तो हाथी के द्वारा खाए गए कैथ में से रस कहां निकलकर अलग हो गया? इसी प्रकार जब उदय प्रतिकूल होता है तो सम्पदा भी यों ही सब बिखर जाती है। इस बात में तो दैव प्रधान है, इसे संसार में कौन टालेगा ?

कर्मक्षेत्र में साम्य की अशक्यता—आज के समय में साम्यवाद की भी होड़ मच रही है, यह अच्छी बात है। ये साम्यवादी यदि पूरी समता ला दें तो यह तो बड़ी खुशी की बात है, पर उनके बल की यह क्या बात है, पर उनके हाथ की बात है क्या यह कि सब जगह समता ला दें। भले ही कुछ प्रतिबन्ध लगाकर धन किसी के बढ़ने न पाये। एक माध्यम बनायें, भले ही छीना झापटी आदि से व्यवस्था बना लें, पर पुण्य का उदय केवल धनसंग्रह में ही निहित नहीं है। यश बढ़ने, हुकूमत करने आदि में अशेष फलता है। उसमें कोई कुछ फर्क मिटा देगा क्या? उसी साम्यवाद के देश में एक चपरासी हुकूमत सहता है और सूखा रुखा खाने को मिलता है, शारीरिक आराम भी नहीं है और वहाँ ही बड़े मिनिस्टर लोग या वैज्ञानिक लोग बड़े आराम में रहते हैं हुकूमत भी करते हैं, यश भी बढ़ता है, लोक में उनका नाम भी चलता है। यह भी बराबर कर दें बड़ी अच्छी बात है? पर किसी में कहां सामर्थ्य है, इन बातों में तो दैव ही शरण है, भाग्य के अनुसार यह सब होता है।

पुण्यव्यवहार की उपेक्षा का निवारण—यह बात इसलिए कहनी पड़ी कि कोई पुरुष यह सोचे कि क्या धरा है पुण्य करने में, क्या धरा है धर्म करने में, यह तो जिसकी लाठी उसकी भैंस, पर यह कहावत फेल हो जाती हैं। पुण्य करो, परिणाम निर्मल रक्खों, शुभ कार्य करो, धर्मदृष्टि रक्खों, इससे ही लौकिक सुख मिल सकेगा। बल का भरोसा मत करो कि मेरे शरीर में ताकत होगी तो मैं सब कुछ कर लूँगा। अरे शरीर की ताकत भी उस पुण्य के प्रताप से मिली है। जहाँ पुण्यकार्य में लगने का उपदेश दिया जा रहा था, उस प्रकरण में यह बात कही जा रही है।

दृष्टान्त का घटितरूप—इसी दृष्टान्त को, जो घटना घटी है उस प्रकार से सुना जाये तो उसका यह अर्थ लगावों कि मुनिसुत्रतनाथ स्वामी के तीर्थ में जब कि श्रीरामचन्द्र जी का समय था और इन्द्ररावण आदिक भी राजा थे उस समय इन्द्र ने क्या किया? उसे ऐसी इच्छा हुई कि मैं स्वर्गों के इन्द्र जैसा वैभव यही भोग लूँ। उसने अपनी नगरी का नाम स्वर्ग रक्खा और उसमें रहने वाले मनुष्यों का नाम देवता रक्खा। ये देव हैं और अपना नाम इन्द्र रक्खा और ऐसी व्यवस्था बनायी कि चार बड़े-बड़े योद्धा राजा नियुक्त कर दिये, ये इस स्थान पर रहेंगे और सुरक्षा करेंगे। उनका नाम लोकपाल रख दिया। अपराधियों को दंड देने के लिए

जमीन में बहुत चौड़ा गहरा कुवां खुदा दिया । यह इतना चौड़ा था कि जिसमें चौंडे धरने उठाने की व्यवस्था भी बन सके, उसका नाम नरक रख दिया । जो अपराध करेगा उसे नरक में डाल दिया जायेगा । इस तरह इन्द्र जैसा वैभव बनाया था एक राजा ने, जिसका इन्द्र नाम प्रसिद्ध हुआ । किसी समय रावण अपनी सेना सहित कहीं जा रहा था, तो किसी घटना पर इन्द्र से युद्ध हो गया । उस युद्ध में इन्द्र को हार खानी पड़ी । इन्द्र नाम का राजा था, मनुष्य था, उसकी प्रसिद्धि है यह कि इन्द्र भी हार गए । उसने अपने मंत्रियों का नाम बृहस्पति रक्खा था । अपने मुख्य हस्ती के वाहन का नाम ऐरावत रक्खा था, सब नकल कर रखी थीं स्वर्गों के इन्द्र की । ऐसा यह इन्द्र भी दूसरे राजाओं के द्वारा हार गया । तो यह व्यक्त है कि भाग्य ही वहां सब कार्यकारी हो रहा है और पौरुषं धिक् ।

भावपुण्य का फल—अरे इस बल पौरुष को धिक् हो । माना यह कार्यकारी नहीं है इससे शिक्षा पराधीन बनने की नहीं लेना है कि भाग्य ही हमारा देवता है । सो भाग्य के हाथ जोड़ते रहो । अरे हाथ जोड़ने से कहीं भाग्य का प्रसाद न मिल जायेगा? यहाँ तो यह बात कहीं जा रही है कि सांसारिक वैभव की प्राप्ति में तुम अपने बल का अभिमान मत करो, कर्तृत्व का अभिमान मत करो । यह बात तो उदयानुसार हुआ करती है और तुम्हें यदि इन समृद्धियों की वाञ्छा हो तो पुण्य करो, पवित्र भाव बनावो, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहपरिमाण को आदर करो अथवा इन पांच पापों का सर्वथा परिहार करो । जो जीव अपने देहबल पुरुषार्थ से ही लौकिक सुख दुःख की सेवा करने का निर्णय बनाये हैं और इस ही कारण अपने पुरुषार्थ से जैसा बने तैसा उपाय करते हैं इन लौकिक समृद्धियों के संचय का, उनको कहा जा रहा है कि सांसारिक समृद्धियों के लिये पुरुषार्थ तो निष्फल है ।

दैवबल में बलाधायक भावपुण्य—पुण्यकर्म है, उसी का नाम दैव है । दैव अनुकूल हो तो पुरुषार्थ भी कार्यकारी है । दैव के अनुकूल बिना पुरुषार्थ कुछ कार्यकारी नहीं । कोई चाहे कि हम शरीरबल के प्रताप से वैभववान् बन जायें अथवा हम किसी भी मनचाही बात को कर डालें, तो ऐसा नहीं हो सकता । तुम्हें पुरुषार्थ ही करना है इस काम के लिए तो पुण्य भावरूप पुरुषार्थ करो । देह के बलप्रयोग के पुरुषार्थ को कार्यकारी यहाँ नहीं कहा गया । तुम भावरूप पुरुषार्थ बनावो, उस पुरुषार्थ से उसका निमित्त पाकर जो पुण्यकर्म बँधेगा उसके उदय के काल में तुम स्वयं समृद्धि पावोगे । यहां प्रयोजन भावपुरुषार्थ कराने का है । तुम पवित्र भाव करो, अपना निर्मल भाव बनावो, किसी जीव को बाधा पहुंचाने की न सोचो । इससे यह शिक्षण लो कि तुम इस देहबल आदिक के पुरुषार्थ की निरर्थक जानकर पुण्यकार्य को ही साधक जानों । उपदेश यह दिया है कि पवित्र भाव बनाने के काम करो । देहबल सिद्धि न करेगा । द्रव्य पुण्यकर्म की जो बात की गई है वह द्रव्यकर्म अचेतन है, उसको करने का तात्पर्य अपने परिणामों के निर्मल बनाने से लेना है, क्योंकि परिणामों की विशुद्धि के निमित्त से ही तो पुण्यबंध होता है ना और उसके उदयकाल में समृद्धियां होती हैं ।

ब्रतादिक पुण्यभावों में लगाने का आशय—इस प्रकार मूल में तो भाव पुरुषार्थ ही है । भौतिक दैहिक पुरुषार्थ का अभिमान छुटाने के लिए और भावात्मक निर्मल परिणाम बनानेरूप पुरुषार्थ की ओर उत्साह देने

के लिए इन शब्दों में कहा गया है कि पुरुषार्थ निरर्थक है और भाग्य ही शरण है । मर्म उसका यह है कि पवित्र परिणाम बनावोगे तो सब सुख मिलेगा, देहबल पर ही तुम कुछ करना चाहो तो यह तुम्हारे साध्य बात नहीं है और देहबल भी तो आखिर पुण्य उदय से मिला है अपार वह पुण्य भी हमारे पूर्व के भाव पुरुषार्थ से होता है, पर मूल बात परिणामों के निर्मल बनाने की कही गयी है । जैसे कि इस छंद से पहिले छंद में कल बताया गया था कि पापों का परिहार करो और शुद्ध ब्रत तप संयम इनमें अपनी प्रवृत्ति करो, उससे ये सब संकट टलेंगे । पुरुषार्थ ही प्रधान है, मगर भाव पुरुषार्थ प्रधान है, देहबल का पुरुषार्थ नहीं । इस बात को इसमें सिद्ध किया है ।

श्लोक (३३)

भर्तारः कुलपर्वता इव भुवो मोहं विहाय स्वयं ।
रत्नानां निधयः पयोधय इव व्यावृत्तवित्तस्पृहाः ॥
स्पृष्टाः कैरपि नो नभो विभुतया विश्वस्य विश्रान्तये ॥
सन्त्यद्यापि चिरन्तनान्तिकचराःसन्तः क्रियन्तोऽप्यमी ॥ ३३ ॥

वर्तमान में भी ज्ञानी ब्रतियों के संभवपने का समर्थन—प्रकरण में हिंसा आदिक पंचपापों के त्याग का वर्णन चल रहा है । उस प्रसंग में जिज्ञासु यह कह रहा है कि हिंसा आदिक का त्याग करना तो दिखता नहीं और पापविरति का आचरण करने वाले भी सम्भव छुट्टी नजर आते हैं । केवल उनकी बात ही शास्त्रों में सुनने में आती है । तब कैसे इस पर विश्वास बने कि हिंसा आदिक का त्याग करना सम्भव है, शक्य है । ऐसी आशंका करने वाले पुरुष को उत्तर इस छंद में दिया गया है । हे जिज्ञासु पुरुष ! तू इसे असम्भव और अशक्य मत जान । बड़े-बड़े मानव पूर्वकाल में जिस मार्ग पर चलें उस ही मार्ग पर यथाशक्ति चलने वाले संत पुरुष आज भी प्रत्यक्ष दिखते हैं याने सदाचार की विभिन्न दिशाओं में अग्रगत पुरुष अब भी नजर आते हैं । क्षमाशील पुरुष, दूसरों के अपराध होने पर भी उनको हृदय से क्षमा कर देने वाले पुरुष अब भी जगत् में देखे जा रहे हैं ।

प्रायः सकल ग्रामों में कुछ एक सदाचारियों की संभावना—भैया ! गांव में किसी विशिष्ट पुरुष पर प्रायः जनता की विशेष दृष्टि नहीं रहती है, लेकिन जो बाहर के लोग कभी आते हैं और उनकी विशेषता समझी जाती है, वे भी तो अपने गांव में कोई विशिष्ट ही है । वहाँ उनका भी उचित कोई विशेष स्थान लोगों के द्वारा मिलता हो, सो भी नहीं है । यह एक प्राकृतिक बात है क्या इसही गांव में संयमी क्षमाशील सरल पुरुष न मिलेंगे? सभी जगह अब भी कोई-कोई त्याग में रत पुरुष देखे जाते हैं । किन्हीं के असत्य बोलने का त्याग है तो वे अपने ब्रत को बराबर निभाते हैं । कई पुरुष अब भी सत्यवादी यहाँ भी नजर आते हैं । व्यापार के प्रसंग से भी कोई सत्यवादी व्यापारी अब भी मिलते हैं । ओर यह सोचना भ्रम है कि सच बोलने से व्यापार नहीं निभता । हम सच बोलने का दृढ़ संकल्प किए हुए नहीं है । कभी कुछ बोलते हैं, फिर

फिसलते हैं, तो ऐसी कदाचित् होने वाली सच्चाई का प्रभाव लोगों पर नहीं पड़ता और इसी कारण वे अपने उद्देश्य में निराश नजर आते हैं। जैसे कुलाचल पर्वत पृथ्वी को आधार बनाये हुए हैं, पर पूर्वी विषयक मोह से रहित है, पृथ्वी पर खड़े हैं, पर पृथ्वी को लपेटकर पहाड़ नहीं रहते हैं। वे ऊंचे को ही उठा करते हैं, ऐसे ही संत पुरुष इस भूमि पर पाये जाने वाले अनेक जीवों को पालते पोषते हैं, उनके आत्मा के उत्थान का यत्न करते हैं, फिर भी उन जीवों में भी मोह से रहित हैं। कितने ही दृष्टान्त ऐसे सञ्जन पुरुषों के अब भी कहीं-कहीं नजर आते हैं।

एक धर्मप्रिय जैन गृहस्थ का दृष्टान्त—मुजफ्फरनगर में एक सलेखचंद नामक जैन अपनी सच्चाई के लिए अपने नगर में बड़ा प्रसिद्ध हुआ। करीब १२ वर्ष पुरानी घटना है। जब सेलटैक्स के मामले में कचेहरी गये तो जज ने वकील से पूछा कि तुम्हारी दुकान कितनी बड़ी है? तो वकील बोले कि कोई ५ फिट के करीब लम्बी चौड़ी है। तो सलेखचंद बोले कि इसके भीतर एक बहुत बड़ा हाल भी है। फिर वकील से जज ने पूछा कि रोज कितना बिकता है? वकील बोला कि कभी २० का, कभी ३० का, कभी ५० का माल बिकता है। तो सलेखचंद बोले कि हां साहब इतने का बिकता है पर कभी ३००, ४०० और ५०० का भी बिक जाता है। जब कहता है कि वकील साहब! तुम कितना ही भुलावे में डालो, अगर यह मालिक तो सच ही बोलता जाता है। बड़ा प्रभाव पड़ा उस जज पर। उसने वही टैक्स पास किया और ईमानदारी का नोट किया अपने कागजात में। कितने ही पुरुष अब भी सत्य पर तुले हुए रहते हैं, सच्चाई नहीं खोते हैं। भैया! लोकवैभव मिलेगा उतना ही जितना कि उदय में है।

ज्ञानी विरक्त पुरुषों का सद्ग्राव—लोग यह आशंका करते हैं कि धर्म के पालने वाले कहां हैं आज और हिंसा आदिक पापों के त्यागी आज कहां होते हैं? पर जिन्हें ज्ञान की धुन लग जाती है, आत्महित की चिन्तना हो जाती है वे व्यापार आदिक को छोड़कर अपनी ज्ञानसाधना में रत हो जाते हैं, ऐसे गृहस्थ अब भी भारत में हैं। यह तो एक भीतरी ज्ञानप्रकाश की महिमा हैं। ज्ञानप्रकाश होने पर उसे फिर कहीं आकुलता नहीं रहती है। वे सबसे महान् वैभव और उत्कर्ष शुद्ध आत्मप्रकाश को मानते हैं। बाहरी पदार्थों को, इन वैभव सम्पदावों को तो वे जीर्ण तृण के समान समझते हैं। जैसे जीर्ण तृण से किसी को मोह नहीं होता लोग उसे फेंक देते हैं, फिर उसकी ओर मुड़कर भी नहीं देखते हैं, ऐसे ही ज्ञानी पुरुष वैभव सम्पदा से मोह नहीं करते हैं। चक्रवर्ती जैसी सम्पदा को भी क्षणभर में ही फेंक देते हैं। सम्यग्विज्ञन नाक मल की तरह धन वैभव को असार समझते हैं। उन्हें अपने इस ज्ञान की रुचि इतनी विशिष्ट होती है कि वे इस ज्ञान को ही निरख निरखकर ज्ञान में ही रत रह-रहकर अपने में ही प्रसन्न रहा करते हैं।

पाप के उदय की मूल परिभाषा—भैया! जगत् में सार क्या है? कौन सा पदार्थ ऐसा है जो इस आत्मा का पूरा पाड़ देगा? इस जीवन में भी पर से पूरा नहीं पड़ता। आत्मा से ये समस्त बाह्य पदार्थ अत्यन्त भिन्न हैं। जो धन से सुख मानते हैं, उन्हें धन विपदा का कारण बन जाता है। देखते तो रोज-राज जाते हैं कि कोई थोड़े ही दिनों में बड़े धनी हो गए और फिर किस तरह से उनकी मृत्यु हो जाती है? पाप का उदय इसे

नहीं कहते कि धन कम हो गया । पाप का उदय इसे कहते हैं कि जिसे वस्तु की इच्छा हो और वह वस्तु न मिल सके । जिसे धन की चाह है और धन न मिले, उसे पाप का उदय कहा जायेगा । जिसे धन से मोह नहीं है और न मिले धन तो उसे पाप का उदय नहीं कहते हैं । जिसे यश की वाञ्छा हो और यश न मिल सके उसे पाप का उदय कहते हैं । इसमें मर्म यह है कि वाञ्छा ही पाप है । इच्छा हो तो यह इच्छा ही पाप का उदय है । फिर बाहरी बातें मिलें न मिलें, उनपर उपचार किया जाता है ।

क्लेश मेंटने का त्वरित एक उपाय—जिसे धन की कमी का दुःख मिटाना हो तो उसका बहुत सुगम उपाय है । शायद कोई यह सोचता हो कि ऐसा उपाय बताया जायेगा कि कल से धन घर में बरसने लगेगा । धन कम है उसका क्लेश है । क्लेश मिटाने का बड़ा सुगम उपाय है । वह क्या उपाय है ? इस सर्वोत्कृष्ट निज स्वरूप का आदर करो, धन में आस्था मत रक्खो, उसकी इच्छा ही न करो, धन की कमी का क्लेश तुरन्त मिट जायेगा । धन की कमी का क्लेश नहीं होता है, किन्तु अन्तर में जो यह कुश्रद्धा बनी है कि धन से ही महत्त्व और धन से ही सारा जीवन है, उसके बिना मेरा जीना निरर्थक है । ऐसी जो अंतः खोटी आस्था हो गयी है उसका क्लेश हो रहा है, धन की कमी से नहीं ।

आनन्द का साधन सम्यक् विवेक—जितने जो भी आज पुरुष है, जो भी समागम मिला है वह किसी न किसी दिन बिछुड़ेगा तो जरूर । भले ही कितना ही परिवार मिल जाये, स्त्री हो गयी, बच्चे हो गए, और-और भी परिवार जम जायें, जम जाने दो, क्या सदा यह जमाव रहेगा? वियोग होगा ही, तो जिस सांसारिक सुख का फल दुःख ही है, अन्त में दुःखी होना ही पड़ेगा, उस सुख में मग्न होना क्या विवेकियों का काम है? जो इष्ट समागम में खुशी मानते हैं इनको बहुत कठिन दुःख होगा, क्योंकि वियोग जरूर होगा । जिसका संयोग हुआ है उसका वियोग नियम से होगा । जिसका वियोग हुआ है उसका संयोग हो या न हो, वहाँ कुछ नियम नहीं है, पर संयोग वाली चीज का तो नियम से वियोग होगा । तब किस बात का हर्ष करना? क्यों व्यर्थ की कल्पनाएं राग स्नेह बढ़ा-बढ़ाकर अपने आपका घात किया जा रहा है ? सम्यग्ज्ञान में बड़ी सामर्थ्य है, इसका बड़ा चमत्कार है, सर्व आनन्द सम्यग्ज्ञान में ही निहित है ।

ज्ञानियों की विशेषतायें—ज्ञानीपुरुष और हिंसा आदिक पापों के त्यागी पुरुष अब भी यत्र तत्र दर्शन को मिल जाया करते हैं । ये ज्ञानीपुरुष समुद्र की तरह रक्तों के निधान हैं । कितने पड़े हैं रक्त समुद्र में पर समुद्र को रक्तों की परवाह ही नहीं है । कितना विशाल पुण्य वैभव है ज्ञानी के, किन्तु इच्छा ही नहीं है ज्ञानी पुरुषों के । ऐसे ही आज भी कदाचित् कुछ पुरुष इस प्रकार के नजर आते हैं जिन्हें धन वैभव में आसक्ति नहीं है । उनकी निर्मोहता को निरखकर लोग आश्र्य करते हैं कि कैसे इनका चित्त ऐसा हुआ है ? इन्हें कुछ परवाह ही नहीं है, ये संत पुरुष सम्यग्ज्ञान आदि रक्तों की खान हैं और धन आदिक की वाञ्छा से रहित है । ये ज्ञानी पुरुष जिनका उपयोग संसार के समस्त वैभवों से विरक्त हुआ है, वे अपने आपको ही संतोष का आश्रय समझते हैं । वे मानों आकाश की तरह निर्लेप हैं । किसी वस्तु का जैसे आकाश में स्पर्श नहीं होता,

ऐसे ही ये ज्ञानी पुरुष अपने आपको शुद्ध सहज ज्ञायकभावस्वरूप निरेप निरख रहे हैं ।

प्रज्ञा का प्रताप—भैया ! प्रज्ञा की बड़ी तीक्ष्ण दृष्टि है । मलिन अवस्था होने पर भी अपने आपमें निर्मल सहजस्वरूप को परख लेना और उस पर लक्ष्य कर लेना यह प्रज्ञा का काम है । यहाँ भी देखो तो हम यदि किसी चीज का आश्रय करें, अशुद्ध जीवों को अपने उपयोग में रक्खें तो कैसे हमारा उत्थान न हो सकेगा । ऊधम करने वाले बच्चे को भी जब आप राजा बाबू कहकर समझाते हैं तो वह ऊधम से हटकर शान्त बैठ जाता है । अपने आपके आत्मा में हम इस वैभव को रागादिक को उपयोग में लेते रहे, अपने को बँध हुए मानते रहे तो इससे अशुद्धता न मिटेगी, अशुद्धता और जकड़ेगी । इस अशुद्ध अवस्था में भी उसके सत्त्व के कारण स्वयं कुछ सहज स्वरूप तो है ही, कहीं सत्त्व का पर से सांकर्य तो नहीं हो सकता । कोई दो पदार्थ मिलकर एक सत्त्व तो नहीं बन जाते । जो पदार्थ में स्वतंत्र सत् है उसका ध्यान अगर हम कर सकते हैं तो इस शुद्ध स्वरूप के आश्रय से हमारी ये अशुद्धताएँ दूर हो जायेंगी ।

ज्ञानियों का उत्कर्ष जनता की शान्ति का भी साधक—ज्ञानी पुरुष का बड़प्पन महंतता ऊँची स्थिति में अवस्थित हो जाना, ये सब जगत की विश्रांति के लिए कारण बनते हैं । देखो प्रभु सकल परमात्मा निर्दोष सर्वज्ञ केवली प्रभु हो गए तो उनके वातावरण में उनकी प्रेरणा से लाखों जीवों का उद्धार हो गया । ज्ञानी पुरुषों में महंतता जगत् के प्राणियों की शान्ति के लिए है । ये जरा भी बाह्यपदार्थों से लिप्त नहीं हैं । यह ज्ञानी संत भी अपने आप में अखण्ड है और अन्य किसी पदार्थ को लिए नहीं रहता है । कितनी प्रज्ञाशक्ति है कि देह के अणु-अणु में यह जीवप्रदेश समाया हुआ है, एकक्षेत्रावगाह है, फिर भी पात्र में पारे की शांति इस देह को अपने स्वरूपमात्र न्यारा निरख सकें यह कितनी ऊँची प्रज्ञाशक्ति है? अपने आपको अकेला परिपूर्ण सबसे निराला आकिञ्चन्य माने बिना शान्ति का लाभ नहीं हो पाता है । बाह्यपदार्थों की ओर कितना ही लगा जाये, कितने ही बाह्यपदार्थ मिल जायें, पर उन समागमों का उपयोग कभी भी शान्ति का कारण नहीं बन सकता है, क्यों कि वह उपयोग बहिर्मुख वृत्ति से चल रहा है ।

साधु संतों की विरलता का समय—यह आत्मानुशासन ग्रन्थ गुणभद्र आचार्य ने लोकसेन मुनि को समझाने के लिए रचा है । जो किसी समय अपने मुनिपद से शिथिल होने लगे थे । वह जमाना ऐसा ही था जिस समय में इस ग्रन्थ की रचना हुई है । यथार्थ मुनि पद के धारक बहुत थोड़े रह गये थे । जब आदर्श सहयोगी विशेष नहीं मिलते देखने को तो स्वयं का भी भाव कुछ शिथिल होने लगता है, ऐसी प्रकृति भी प्रायः है । ऐसे समय में किसी जिज्ञासु ने कोई तर्क किया होगा कि मुनिधर्म तो धारण करना बहुत कठिन है । मुनि धर्म के आचरण की बात तो चौथे काल की है । अब के समय में मुनि कौन हो सकता है ? ऐसी आशंका पर यह उत्तर दिया गया है कि अब भी कोई-कोई मुनिधर्म के यथार्थ धारण करने वाले उपलब्ध हैं । धर्म का अभाव समझकर अपने आचरण को शिथिल मत कर अथवा कदाचित् तेरी दृष्टि में न भी आये कोई मुनिधर्म के यथार्थ पालक तो तू स्वयं तो समझ और ऐसा तो जान कि इस काल में भी जहाँ कहीं ऐसे आचरण के पालनहार सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र के निधान कोई यतीश्वर हों, वे मेरे हृदय में

विराजें । भावना तो शुद्धस्वरूप की बना । पंचमकाल के अंत तक भी यथार्थ सम्यग्दृष्टि मुनि होंगे । होंगे बिरले क्वचित् कदाचित्, पर अभाव नहीं कहा गया है ।

धर्मिक जीवन की सिद्धिसाधकता—धर्म की प्रीति ही हम लोगों को शान्ति में पहुंचाने में समर्थ है । अन्य पदार्थों की प्रीति तो धोखा, छळ, विकार सभी अवगुणों से भरी हुई है । अन्यत्र आस्था न करें, अपने आपको धर्मपालन में लगावें । पवित्रभाव बने, पुण्य कार्य हो, धर्म की दृष्टि जगे—ऐसे पवित्र भावों सहित यदि यह जीवन बीत जाये तो यह बड़े सुभवितव्यता की बात होगी । इस जीवन को धर्मपालन के लिए ही मानें, धनसंचय भोग भोगना आदिक सांसारिक सहूलियतों के लिए अपना जीवन न समझें ।

श्लोक (३४)

पिता पुत्रं पुत्रः पितरमभिसधाय बहुधा ।
विमोहादीहेते सुखलवमवासुं नृपपदम् ।
अहो मुग्धो लोको मृतिजननदंष्ट्रान्तगतो ।
न पश्यत्यश्रान्तं तनुपपहरन्तं यमममुम् ॥ ३४ ॥

धर्म के प्रसाद बिना मोह की विडम्बना—ज्ञान और आनन्द के निधान निज सहजस्वरूप के निश्चयधर्म की साधना से रहित होने पर संसार के मोही जीवों में क्या विडम्बना बनने लगती है ? उस विडम्बना का एक छोटा रूपक इस छंद में बताया गया है । पिता तो पुत्र को और पुत्र पिता को नाना प्रकार से ठग कर मोह की प्रेरणा से लेशमात्र सुख को पाने के लिए राज्यपद की वाञ्छा करते हैं । बड़े आश्र्वय की बात है कि यह मुग्ध लोक पड़ा तो है जन्ममरण के दाढ़ के भीतर, जैसे दांतों के मध्य दाढ़ होते हैं, किन्तु जन्म मरण का जो भय है उसे नहीं देखता और नाना ठग्गी करके, विश्वासघात करके यह लोकिक सुखों को भोगना चाहता है ।

मृत्यु का विस्मरण और रौद्रध्यान—आधुनिक इतिहास में भी एक प्रसिद्ध घटना है कि एक औरंगजेब ने पिता को कैद करके बलात्कार करके राज्यभार ले लिया था । पुत्र पिता को ठगता है, पिता पुत्र को ठगता है । किसी का हृदय किसी के लिए स्पष्ट नहीं हो पाता है । कहां सरन है? पिता संतान के विषय में नाना कल्पनाएँ करके दुःख मानता है और पुत्र पिता को अपने आराम में बाधक मानकर दुःख मानता है । कितनी ही जगह देखो जाती है ये बातें कि माता पिता बड़े लाड़ से, बड़े चाव से गोद में ही बच्चे को रखकर देखते रहे ऐसी बड़ी प्रीति से और कितने ही कष्ट सहकर सेवा करते हैं, पुत्र को बड़ा कर देते हैं, और पश्चात् पुत्र ही ऐसी प्रतिकूल प्रवृत्ति करने लगता है कि जिससे माता पिता अपनी पहिले की गयी सेवाओं को पछताते हैं । कितने प्यार से पाला पोसा, पर आज यह गति की जा रही है । अरे यह छलपूर्ण व्यवहारे केवल एक विषयभोग के साधनों की प्रीति पर बना हुआ है और कारण क्या है उसका ? यह सब धर्म मर्म के परिचय के बिना अधर्म का नाच हो रहा है । जैसे कोई सिंह की दाढ़ में आए हुए पशु शरीर को सिंह चाब रहा है, उसका तो विचार नहीं करता और खेलने का प्रोग्राम बनाए हुए है तो यह कितनी विडम्बना की बात है?

मृत्यु की दाढ़ में बैठकर फिर विषयों का खेल—स्वयंभूरमण समुद्र में एक बहुत बड़ा मत्स्य होता है जो अपना मुँह बाये रहता है और उस मुँह में सैकड़ों मछलियां खेल किया करती है, और कितनी ही मछलियां गले में से पेट तक उत्तर जायें, किलोल मचाएं, पर उन मछलियों को यह पता नहीं है कि किसी भी समय यह अपना मुँह दाब दे और हम लोगों को स्वाहा कर जाये। किसी के जन्मने की और मरने की दोनों की निश्चित् तिथि नहीं बनती है कि कितने बजे कब मरेंगे अथवा पैदा होंगे। पैदा होने का यह अंदाज तो होता है कि अब होने के दिन करीब है, पर मरने को तो कहीं भी चलते फिरते अचानक ही मर जाये। ऐसा यमराज के फंद में तो यह जीव पड़ा हुआ है और यह यहाँ विषयों का खेल करता है।

काल की गोद—‘जगत् चबेना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद। विषय सुख के कारणे मूरख माने मोद॥’ संसारी प्राणियों की ऐसी हालत है जैसे बालक लोग अपने कुर्ते में रखकर चने चबाते हैं तो कुछ चने गोद में लिए है, कुछ मुख में डाले हुए खा रहे हैं और कुछ खा चुके हैं, ऐसे ही मानों हम आप सब काल के कपड़े की छोर में पड़े हुए है, हम आप सब काल के चबेना बन रहे हैं। कुछ काल की गोद में बैठे हैं मरने के लिए, कुछ काल के मुख में पड़े हुए है और कुछ काल द्वारा खाये जानें के लिये उसकी गोद में पड़े हैं, ऐसी तो स्थिति है, किन्तु मूरख पुरुष इसही स्थिति में मोद मानते हैं। हम बड़े अच्छे हैं, बड़ा सुख है। किसी बुड्डे से पूछो—कहो बाबा जी मजे में हो? तो वह कहता है, हां हम बड़े मजे में है, इतने नाती हैं इतने पोते हैं, सब ठीक है। अरे कहां मजे में है वह शल्य तो लगी हुई है उन नाती पोतों की, और बता रहे हैं कि हम मजे में हैं। अरे इस आराम का दिल में बसना यही एक शल्य है।

अतृप्ति और भटकना—अहो मोही जन कितना विपरीत मार्ग बनाए हुए दौड़े जा रहे हैं मृगमरीचिका जल की तरह। जैसे प्यासा मृग गर्भ के दिनों में रेतीली नदी के बीच खड़ा हुआ सूखी नदी के रेत को तक रहा है, बहुत दूर की रेत पानी जैसी मालूम होती है, वह दौड़ता है पास पहुंचता है तो देखता है पानी का नाम नहीं, और भी सिर उठाया, आगे फिर पानी देखा; निकट पहुंचने पर देखा कि पानी का नाम नहीं। इसही प्रकार से दौड़-दौड़कर वह हिरण अपने प्राण गंवा देता है। ऐसे ही हम आप बचपन से लेकर वृद्धावस्था तक और करते ही क्या हैं? बचपन में मां बाप की गोद में रहकर सुख माना, वहाँ तृप्ति न हुई तो कुछ कलायें सीखने में सुख माना; मोटर, साइकिल संगीत आदि कलाएं सीखने पर भी तृप्ति न हुई तो अब सपनोंका बने। वहाँ भी तृप्ति न हुई तो पुत्रों के स्वप्न आने लगे। पुत्र भी हो जायें, फिर भी तृप्ति तो होगी नहीं, एक न एक बात आगे खड़ी हो ही जायेगी। तृप्ति कहां से होगी? यों धन वैभव के संचय में, यश की प्रतिष्ठा के स्वप्न देखे जा रहे हैं और अतृप्ति बढ़ती जा रही है, दौड़ लगाते जा रहे हैं। हिरण की तरह इसी दौड़ में थककर हम आप प्राण गंवा देंगे।

सुख हम ही में था पर नहीं जाना—भैया! सुख हम ही में था, पर हमने समझा नहीं। आनन्द का पिंड ही यह ज्ञानपुंज आत्मा है पर इसमें हम उपयोग नहीं लगा रहे हैं और निःसार व्यर्थ भिन्न परपदार्थों से सुख प्राप्त करने की आशा कर रहे हैं। जैसे कस्तूरी वाला मृग, जिसकी नाभि में कस्तूरी बसी है, गंध आ रही है,

भ्रम यह हो रहा है कि किसी और से आ रही है यह गंध, सो वह मृग उस गंध को ढूँढ़ने के लिये दौड़ लगाता है, है खुद के ही पेट में। नाभि में तो कस्तूरी है उसकी गन्ध आ रही है और दौड़ लगा रहा है बहुत दूर-दूर। ऐसे ही हम आपका है आनन्दस्वरूप, पर अपने इस आनन्दस्वरूप पर जब उपयोग नहीं देते हैं और बाहर में भ्रम बनाया है तो पराधीन बनकर भटकते ही रहेंगे। कहां आनन्द मिलेगा ?

वास्तविक पराधीनता—पराधीनता विषयों की वाञ्छा का नाम है। किसी जंगल में कोई दो पांच मित्र जा रहे थे। एक शिकारी, चिड़ीमार जाल बिछाकर छिप गया। कुछ चिड़िया आर्यों, फँस गये। एक मनुष्य कहता है कि इस बगीचे ने इस चिड़िया को फांस लिया। दूसरा कहता है अरे नहीं, इस चिड़ीमार ने चिड़िया को फांस लिया है। तीसरा बोला, चिड़ीमार ने नहीं फांसा, जाल ने फांसा है। चौथा बोला कि जाल ने नहीं चिड़िया को फांसा, जाल के नीचे पड़े चावलों ने। पांचवां बोला कि उन चावलों ने नहीं फांसा, किन्तु उन चावलों के भोगने की जो इच्छा है उसने फांसा। ऐसे ही हम आप लोग अपने दुःख में, अपने फँसाव बन्धन में बुरी मौत मर रहे हैं। दूसरे का नाम लगाते फिरते हैं। इन लोगों ने मुझे बन्धन में डाल दिया, ऐसा दुःखी किया। अरे तुझे किसी ने दुःखी नहीं किया, अपने ही परिणामों को बिगाड़कर, भ्रम को बनाकर, सांसारिक वाञ्छाएँ बढ़ाकर अपने को खुद ही दुःखी कर डाला है, दूसरे ने दुःखी नहीं किया है।

विषयचाह की दाह—यह तेल से जलने वाला दीपक अपने सिर पर कांच रखकर मानों कसम खाकर कह रहा है कि मैने इन पतंगों को नहीं जलाया, ये पतंगे खुद उड़कर आ गए और गिरकर जल गए। इन विषयभोगों ने हमें नहीं बांधा, किन्तु हम ही लोग अपने उपयोग को विकृत करके खुद ही इन दंदफंदों में बँधे और फँसे हैं। बँध तो गए और बँधने का उपाय भी सुगम है, पर कोई अंतरङ्ग में भी सोचने का साहस नहीं करता। कितना विकट बन्धन है, हम जकड़े हैं इनको भीतर में। ज्ञान की चर्चाएं करके बहुत-बहुत बातें भी हांकते, धर्म को बड़ा रूपक भी करते, पर भीतर में फर्क नहीं आता, ऐसा कौनसा बन्धन है? प्रभु के दरबार में कहते कि हे प्रभो ! मेरे ममता न जगे, विषयकषाय न जगें, पर मंदिर में खड़े रहने के काल तक भी गारन्टी नहीं है कि ममता न जगे और कषाय न जगे। दरवाजे के बाहर जानें की तो बात ही क्या कहें? ऐसा कौनसा राक्षस इसके अन्दर पड़ा हुआ ये सब व्यवस्थाएं बना रहा है? वह राक्षस है स्वरूप का अपरिचय।

आत्मसुध बिना बरबादी—भैया ! हम भावना नहीं करते हैं अपने स्वरूप की, इसी से संक्षेष भोगते रहते हैं। मैं ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा सोचिये बार-बार। मैं केवल ज्ञानपुंज हूँ, सोचते जाइए, इस देह को भी भूल जाइये, इतनी दृष्टि बनाना है अपने आपके बारे में। यह भी तरंग न उठे कि मैं अमुकचंद हूँ, अमुक गांव का हूँ; इस देह को भी भूल जावो। धन सम्पदा तो प्रत्यक्ष जुदे हैं, जड़ है, अपने स्वरूप की भीतर से सुध लो। मैं ज्ञानमात्र हूँ, इसकी बारबार भावना करो। यही है वास्तविक पुरुषार्थ, जो अब भी काम देगा और आगे भी काम देगा। इस शुद्ध सहजस्वरूप की उपासनारूप धर्म की दृष्टि नहीं करते और नाना विकल्पों में उलझे रहते हैं। फल क्या होगा? जिन समागमों को देख देखकर खुश होते हैं ये तो मदद करेंगे नहीं। इनकी तो

इतनी ही कृपा है कि मरने पर तुरन्त जला दें। इससे आगे और कुछ आशा न रखें। सब छोड़कर जानें के बाद क्या बीतेगी खुद पर, यह तो इस जीवन की करतूत पर निर्भर है। क्या पाप किया, कितनी बहिर्मुखता की, कितना ममत्व किया? जैसा जो किया उसका फल मिलेगा।

जन्ममरण की दाह के बीच—जैसे किसी बांस के भीतर कोई कीड़ा पड़ा हो और बांस की उस कोर के दोनों छोर पर आग लग जाये तो अब वह कीड़ा क्या करे ऐसे ही हमारे आपके दो छोर हैं जन्म और मरण। उस जन्म-भरण, बीच पोल में हम आप पड़े हुए हैं। जन्मसमय भी आग लग रही है, मरण में भी आग लग रही है, अब कहां जायें, क्या करे? लोग जन्म होते समय हर्ष मानते हैं, पर जन्म लेने वाला जो दुःख पाता है उसको वही समझे। वह तो दुःख के मारे मरता है, कितना कोमल शरीर और किस तरह से निकलता है, कितना दुःख वह पा रहा है, और कदाचित् उल्टा सीधा हो जाये तो उसकी बड़ी दुर्गति है। जन्म समय बच्चे को इतनी कठिन तो आपत्ति है और परिवार के लोग ढोल बजा रहे हैं, परिवार के लोग अपनी कषाय संभाल रहे हैं, वह अपने कर्मों को भोग रहा है। मरण से जन्म का दुःख मामूली नहीं है ओर मरण का भी दुःख बड़ा विकट दुःख है। मरण का दुःख भी कुछ कम नहीं है, जिसे ममता है उसे दुःख है। शरीर से प्राण निकलने में इतना कष्ट नहीं अनुभवा जाता है जितना कष्ट कमाये हुए धन वैभव के छूट जानें के विकल्प का होता है और फिर ये परिवार के लोग सब छूट रहे हैं इसका ख्याल करके उसे बहुत बड़ा क्लेश होता है।

मोहियों के प्रसंग के प्रसाद का एक दृष्टान्त—भैया! देखा फिर परिवार के लोग भी क्या करते हैं कि मरने वाले की छाती पर नाती पोते सन्ते आदि छोटे बच्चे धर देते हैं ताकि छाती ठंडी हो जाये मरते समय, पर उससे तो मोह की अग्नि और धधकती है, वह बुझा तो मोह में पड़कर मर रहा है। देखो यह मोहियों का समूह है, जो कुछ बने वह कम है। एक पंडित जी किसानों के एक गांव में पहुंचे। सब किसानों को पता लगा कि पंडित जी महाराज आये हैं, यह कथा वार्ता करेंगे। खूब जमात जुड़ गयी। पंडितजी महाराज ने १५ मिनट तक खूब संस्कृत झाड़ी, संस्कृत के श्लोक सुनाये। सुनने वाले लोग बोले कि पंडित जी के बाय लग गयी है क्या? जब बाय लग जाती है तो कोई अट्ट सट्ट बकता है। उन सुनने वालों को सब अट्ट सट्ट लगा। सो सबने सलाह किया कि अरे अपने मातें साहब को जल्दी बुलावों पंडित जी के बाय लग गयी है। थोड़ी देर में सन्निपात हो जायेगा तो मर जायेंगे। झट बुलाया माते साहब को। सो बाय की दवा होती है दाग। सो इन्होंने बड़ी भक्ति से कहा कि अपने यहाँ पंडित जी आये हैं, इनको कुछ नुक्सान न हो जाये, तो झट आश के तीन चार तकुवा गर्म किये और दो चार जनों से कहा कि पंडित जी को डांट कर पकड़ लेना। बाय वाले आदमी को ताकत भी बहुत आ जाती है। पकड़ लिया तीन चार लोगों ने और शरीर में जगह-जगह तकुवा लगाना शुरू किया। अब वह पंडित जी और भी संस्कृत में भगवान् का स्मरण करने लगे, क्योंकि दुःख आया। वे बोले कि अरे बाय तो और तेज हो गयी है तो एक दो जगह और तकुवा लगा दिये। जब पंडित जी बहुत दुःखी हो गये तो थोड़ी देर में चुप हो गए। लोग भी शान्त हो गये। पर पंडित जी

अपने कर्मों को इशारा कर माथा हाथ से ठोकने लगे । तो लोगों ने कहा कि इनके सिर में बाय का दर्द रह गया है, सो सिर को भी खूब तकवा से दागा ।

हितपथ प्राप्ति—यहाँ तो ऐसी ही व्यवस्था की बात है । कहाँ जायें, क्या करें? जहाँ मोही मोहियों का ही संग है प्रसंग है, वहाँ से अपनी निवृत्ति का रास्ता निकाल लेना बहुत कठिन है और कुछ कठिन भी नहीं है । जब तक अपने आत्मस्वरूप का परिचय न हो तब तक सारे संकट मिट नहीं सकते हैं । मैं निःसंकट ज्ञानानन्द का पिंड हूँ—ऐसी भावना बार-बार भायें तो अपने सारे संकट छूट सकेंगे । इन मिले हुए समागमों पर विश्वास न करें, न इन्हें पकड़कर रहें, कुछ अपनी सुध करें और अपने स्वरूप की उपासना करके यह उत्कृष्ट नरजीवन सफल करें ।

श्लोक (३५)

अन्धादयं महानन्धो विषयान्धीकृतेक्षणः ।

चक्षुषाऽन्धो न जानाति विषयान्धो न केनचित् ॥ ३५ ॥

वास्तविक अन्धा—जगत् में अंधा कौन है व सूझता कौन है ? इस सम्बन्ध में वास्तविक दृष्टि देकर निर्णय करो । विषयों में जो अंधा है वह ही वास्तविक अंधा है । जिसके विषयों के अंधकार के कारण विवेक नष्ट हो गया है, कुछ भी अपनी जीवन यात्रा ठीक बना ही नहीं सकता है, ऐसा पुरुष अंधा कहलाता है । और जिसे अपने हित अहित का विवेक है जो जगत् के जीवों के स्वरूप को और अपने स्वरूप को भली भांति परखता है और इसी कारण जो सदा अपने आपमें तृप्ति और प्रसन्न रहता है—ऐसा पुरुष सूझता है । आंखों का अंधा तो केवल आंखों से ही नहीं देख सकता है, पर और इन्द्रियों से तो जानता है । कर्णेन्द्रिय, ग्राणेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय और रसना इन्द्रिय उसके प्रबल हो सकते हैं । जो विषयों में अंधा हो गया है वह तो किसी भी प्रकार सत्य बात, शुद्धमार्ग को नहीं जान पाता है ।

विषयान्धों की दशा—यह जगत् सब विषयों का रोगी है । एक ओर से देख लो, ५ इन्द्रियां और छठा मन—इन ६ विषयों का रोगी है । कोई पुरुष कामवासना से अत्यन्त अधिक पीड़ित है । न्याय अन्याय हित अहित सबको तिलाज्जलि देकर यह अशुद्ध आचार में लगा करता है । इस कामांध पुरुष की कहीं इज्जत भी नहीं है । जो लोग जानते हैं कि अमुक पुरुष परम्परासेवी है अथवा वेश्यागामी है उस पुरुष के प्रति किसी के हृदय में कभी अनुराग जगता है क्या? भले ही धनबल उसके पास हो और उसके कारण मुँह पर कुछ भले-भले वचन बोलने पड़ते हों, किन्तु सभी के हृदय से वह उतरा हुआ है । कामी पुरुष की कोई कदर नहीं करता । बड़े-बड़े पुरुष ऐसे सुभट जो दिग्गज हस्तियों को और बड़ी सेना को वश में करने का बल रखते हैं वे भी पुरुष स्त्री के समक्ष अपने आपके बल को खो देते हैं और अन्तर से याचनारूप अपना परिणमन करते हैं । काम के विषय का अंधा पुरुष बुरी तरह से कुमौत से मरता है ।

कामान्ध की दुर्दशा—एक घटना है, कोई अधिक पुरानी नहीं है । एक कान्स्टेबिल किसी वेश्या में आसक्त

था । उसने अपना सारा धन धीरे-धीरे उस वेश्या को दे डाला । अब वह निर्धन हो गया । उसकी नौकरी भी छूट गयी तो वह वेश्या के घर के सामने एक पेड़ के नीचे पड़ा रहता था । किसी ने पूछा कि तुम यहाँ क्यों पड़े रहते हो ? तो वह बोला कि मेरे पास अब कुछ धन बल तो है नहीं । यह वेश्या मुझे घर भी नहीं आने देती, लेकिन यहाँ इसलिये पड़ा हूँ कि यह ऊँचे नीचे उतरे तो इतने में ही उसकी शकल दिख जाये । यह है कामांध पुरुषों की दुर्गति और यहाँ कहीं भी सर्वत्र देख लो । जो स्त्री अथवा पुरुष किसी प्रकार काम में रत होकर परपुरुष या परस्त्री से नेह लगा ले, उसके रात दिन शल्य में ही व्यतीत होते और भय शंका इन पीड़िवाँ में उसके दिन रात गुजरते हैं ।

विषयान्ध में प्रभुदर्शन की अपात्रता—विषयों में सुख क्या है? कुछ नहीं । केवल कल्पनामात्र है, और कष्ट कितना भोगता है यह कामी पुरुष? रात दिन चिन्ता, वेदना, शंका बनी रहती है । और की बात तो जाने दो, शस्त्रों से हथियारों से मृत्यु भी हो जाती है, यह विषयान्ध पुरुष कुछ भी हित अहित को नहीं देखता । यदि किसी मानव में विषयों का अंधपन न रहे, आत्मबल प्रखर रहे और हित अहित के विवेक में सावधान रहे तो उसे प्रभु के दर्शन सुगमता से हो सकते हैं, पर जो विषयरत पुरुष है वह प्रभु के दर्शन का पात्र नहीं है । उसे शान्ति और संतोष भी हो नहीं सकता है । यह विषयों का वास्तविक अंधा है ।

तुलसीदास कवि की वैराग्य की घटना—तुलसीदास जी के चरित्र आया है कि वे गृहस्थी में कामान्ध बनकर ससुराल में स्त्री से मिलने के लिए चले रात्रि के समय । बीच में पड़ती थी नदी । नदी से उत्तरकर जाने का साध कुछ न था । एक मुर्दा नदी में बहता चला आ रहा था, उसको ही पकड़कर उस पर बैठकर कुछ हाथ पैर चलाकर इस तीर पहुंच गये । यो रात्रि के एक दो बज गये । उस महल में जाने का कोई साधन न था तो एक सांप लटक रहा था भींत पर । उसे ही रस्सी जानकर वह ऊपर चढ़ गए, स्त्री से मिले, स्त्री ने पूछा कि तुम इतनी विकट रात्रि में यहाँ कैसे आ गए? हमें तो बड़ा आश्र्य है, कुछ साधन भी न था ऊपर तक आने का । तुलसीदास बोले कि वहाँ जो रस्सी लटक रही है उसके सहारे यहाँ चढ़ आये । देखें तो सही, देखा तो सांप था । और नदी आप कैसे तैर आये? यहाँ एक काठ था जो नदी के किनारे रख दिया है उसको पकड़ कर हम चले आये । वहाँ जाकर देखा तो मुर्दा था । स्त्री कहती है कि 'जैसा नेह हराम से तैसा हरि से होय । चले जावो बैकुण्ठ में पल्ला न पकड़े कोय ।' जितना नेह तुम्हें इस खोटे कार्य से है उतना नेह यदि प्रभु से होता तो तुम स्वर्ग के पात्र होते । इतनी बात सुनकर और खासकर विषयों के पीछे तिरस्काररूप वाणी सुनकर ऐसा वैराग्य जगा कि उसी समय कह दिया कि अब आज से तुम मेरी मां हो और मुझे शिक्षा देने वाली गुरु हो । वहीं से ब्रह्मचर्य का नियम लेकर फिर वह साधना में लग गये । प्रयोजन यह है कि काम का अंधा पुरुष इतने तक काम कर डालता है ।

वास्तविक अंधा कौन है? जो विषयों में अंधा हो । इस कामवासना से, इसके प्रवर्तन से शरीर का बल भी घटता है, आत्मा का बल भी खो दिया जाता है, पर की आधीनता भी बन जाती है, नाना संकट भी सामने आते हैं, पर हाय रे मोह का नाच कि जिस जीव में तू लग बैठा है उस जीव की बरबादी ही कर देता

है। कौन है अंग? जो विषयों में अंधा है।

रसनेन्द्रिय के लोभ की दशा—भैया! एक स्पर्शन इन्द्रियों की ही बात नहीं, सभी इन्द्रियविषयों में और मन की कल्पनाओं में, विडम्बना ही विडम्बना भरी है। यह रसना का लोभी कितने सुख के लिए परेशान है? थोड़ी देर को, जितने क्षण तक जीभ की नोक का सम्बन्ध है, उतनी ही देर तो रस की बात आती है। थोड़े से क्षणिक काल्पनिक सुख में आसक्त होकर इसे कितना उपद्रव करना पड़ता है अब खूब कमावो और खूब श्रम करो, भोजन के आरम्भ का भी श्रम करो और कितने ही झगड़े कलह भी कर लो, सारी बातें करनी होती है और फल क्या मिलता है? लो दांतों में कीड़े पड़ गये, पेट में कीड़े हो गए, अफाग चढ़ गया, बुखार हो गया, यह उसका फल मिलता है। एक क्षण भर के काल्पनिक सुख के पीछे इतना हैरान होना पड़ता है मोही जीव को। यह अंधा है, इसे कुछ सूझा नहीं रहा है, अपने विवेक से नहीं चल सकता। बिरले ही पुरुष ऐसे होते हैं कि स्वास्थ्य की दृष्टि से खाते हों, नहीं तो केवल स्वाद की दृष्टि से ही जब चाहे लोग खाते रहते हैं। स्वास्थ्य की दृष्टि से तो केवल दो बार का ही खाना काफी माना गया है। क्या जरूरत है तीन तीन घंटे में कभी चाय, कभी दूध, कभी फल, कभी पकौड़ी खाने की। क्या ये स्वास्थ्य रखने के लिए खाये जा रहे हैं? नहीं। केवल स्वाद के लोभ में आकर खाये जा रहे हैं। जहाँ स्वाद के लोभ का उपयोग हो गया, वहाँ प्रभुदर्शन से, धर्मपालन से वह वंचित रह गया। क्या वह धर्मसाधना करे? खाने ही खाने की चिन्ता पड़ी हुई है।

प्राकरणिक शिक्षा—इन सब प्रसंगों से कुछ न कुछ शिक्षा लो और जीवन में उतारते चलो तो कुछ समय बाद हित की बात मिलेगी। स्पर्शन इन्द्रिय के विषय में तो यह नियम करो कि मनसा वाचा कर्मणा किसी भी परस्ती अथवा किसी भी परपुरुष की ओर हृदय से भी विकल्प उत्पन्न हो, कुवासना न जगे, ऐसा संकल्प से बनाये अन्यथा हैरान खुद को ही होना पड़ेगा। रसना इन्द्रिय के विषय के सम्बन्ध में इतना पालन करे कि दो बार ही खाना तीसरी बार की क्या जरूरत? रात दिन खाने ही खाने की क्या जरूरत?

रात्रिभोजन के दोष—रात्रि में अनेकों कीड़े आते हैं। सूर्य का प्रकाश जब नहीं रहता है तो कितना भयंकर समय रहता है, मानो चोरी-चोरी काम हो रहा हो। कुछ हृदय भी खाने की गवाही नहीं देता है। हिंसा कितनी होती है? रस का लोभ भी कितना बढ़ गया है सद्गृहस्थ का कर्तव्य है रात्रि को न खाना और दिन में भी केवल दो बार खाना, शेष समय षट्कार्यों में लगायें—दया, परोपकार, समाजसेवा, खुद का ज्ञान बढ़ाना, आजीविका करना, जो-जो कुछ गृहस्थी में योग्य है उन कार्यों में समय दीजिए। खाने में ही अधिक समय बरबाद करना यह तो आत्मा की अवनति का कारण है। रही एक बल की बात। यह कोरा भ्रम है कि कई बार न खायें तो देह का बल न रहेगा। अरे एक बार केवल खा पीकर रहने वाला भी कठिन से कठिन परिश्रम कर सकता है। दो बार खाना गृहस्थ को पूर्ण बताया गया है। शास्त्रों में भी खाने के पूरे समय केवल दो ही नियत किए गए हैं। देहातों में तो अब भी आप दो बार का ही खाना पायेंगे। मुख्य बात तो यह है कि विषयों के प्रति लोभ न रहेगा तो धर्मपालन का ज्यादा अवसर मिलेगा और भीतर तैयारी रहेगी।

।

ग्राणेन्द्रियविषयलोभ की दशा—तीसरा विषय है ग्राणेन्द्रिय का । कितना व्यर्थ का विषय है? अरे न सुगंधित तेल फुलेल लगाये तो कौनसी शरीर की घटती होती है, पर शौक है इसलिए कोट के कालर में, जेबों में इत्र लगाना, कान में इत्र का फुवा रखते हैं । अरे इन सब चीजों से न आत्मा को लाभ है, न देह को लाभ है । हाँ सुगमता से मिल जाये, थोड़ा सेवन कर ले, पर उसमें ही व्यसन बना लेना, उसमें ही अपना समय गुजार देना, यह तो लाभ की बात नहीं है । गृहस्थ के लाभ के काम केवल तीन है—धर्म करना, धन कमाना और नीति, न्यायपूर्वक परिवार का, ग्राम का, देश का पालन पोषण करना । इसकी तो जो विषय में आसक्ति है वह सब वाहियात काम है ।

चक्षुरिन्द्रियविषयलोभ की दशा—चक्षुरिन्द्रिय के विषय में आसक्त होकर पतंगे भी प्राण गवा देते हैं और फिर मिलता क्या है? किसी रूप की ओर टकटकी लगाकर निरखने से मिलेगा क्या? उपयोग बुरा किया, आंखों की शक्ति घटाई और धर्म से च्युत हुए, पराधीनता भी बनायी, तत्त्व क्या निकला? यह भी अंधा पुरुष है । आंखों से रूप को देखने का लोभ करने वाला पुरुष अंधा है, उसे सूझता न कहेंगे ।

कर्णेन्द्रियविषयलोभ की दशा—यों ही कर्ण इन्द्रिय का राग है । बहुत बड़ी रागरागनी सुरीले शब्दों को सुनकर ही अपने को मस्त कर लेना, यह कर्णइन्द्रिय का राग है । भजन भी सुने तो उसमें धर्म की बात पर प्रधान दृष्टि न हो, किन्तु तान राग स्वर पर ही उसकी दृष्टि हो तो वह कर्णइन्द्रिय का विषय ही तो है । उस विषय से भी इस जीव को लाभ क्या मिला?

मनोविषय का दुःखद विस्तार—मन का विषय तो बड़ा ही विकट है । यह जीव मन की स्वच्छन्दता के कारण कितना पराधीन बन रहा है? यह सारा जगत यह संज्ञी मानव यह चाह करता है कि दुनिया में मेरी कीर्ति हो, यश हो, नाम बढ़े, धन बढ़े, चाहे भाषण देकर बढ़े, चाहे किसी प्रकार की नेतागिरी करके नाम बढ़े, सब जीवों के पास अपने नाम यशकीर्ति की ही धुन लगी है । अरे जहाँ तुम नाम चाहते हो वह तो सब मायारूप है, असार है । तुम किसमें अपना नाम चाहते हो? नाम चाहने की बात हुई कि बाह्य दृष्टि हुई, वहाँ धर्म रहता नहीं है । धर्म की बात सुनाकर भी यदि यह बात मन में है कि लोग जानें कि यह कितने अच्छे ढंग का भाषण करता है, चर्चा करता है, भजन बोलता है, ये लोग समझ जायें ऐसी दृष्टि है तो वहाँ धर्म का काम कुछ भी नहीं किया, केवल विषयों के पोषण का ही काम किया है ।

मनोविषय के पोषण का श्रम व परिणाम—मन का विषय भी बड़ा कठिन विषय होता है । बनारस में एक पंडित जी थे । सभी शास्त्रों के बड़े ज्ञाता, जिनके सैकड़ों शिष्य पंडित हो गए । फिर भी वे रात दिन ग्रन्थों को देखते ही रहते थे । लोगों ने कहा पंडित जी तुम इतने वृद्ध हो गए हो, इतने तुम्हारे शिष्य हैं, पर अब भी तुम रातदिन पढ़ते रहते हो । क्यों इतना कष्ट करते हो? तो पंडित जी बोले कि बेटा! किसी ने हम से शास्त्रार्थ कर दिया और हम हार गये तो फिर कुवे में गिरकर ही मरना पड़ेगा । सो शास्त्रार्थ में हार न खानी पड़े इसलिए पढ़ते रहते हैं । आखिर किसी युवक से शास्त्रार्थ में हार गए और कुवे में गिरकर मर गए । तो

मन का विषय भी इस जीव को अंधा बना देता है ।

मन के हठ की विडम्बना—किसी कस्बे में एक स्त्री ने यह हठ पकड़ ली कि मुझे २५ तोले भर सोने के बखौरे भुजाओं में पहिनने के बनवाये जाना ही चाहिए । खैर, किसी तरह से पति ने कर्ज लेकर २५ तोले के बखौरे बनवा दिये । तब कस्बे में मोटी धोती पहिनने का रिवाज था, पूरे अंग को धोती से ढककर वह चले तो किसीने भी यह न कहा कि ये बखौरे अच्छे बने हैं । अब वह मन ही मन बड़ा क्रोध करे । हाय ! इतनी हठ करके गहने बनवाये और किसी ने न कहा कि ये बड़े अच्छे हैं । जितने भी सजावट के पोशाक पहिने जाते हैं उनमें भी मूल में यही भाव तो रहता है कि लोग समझें कि यह बड़े अच्छे सज धज कर रहते हैं । अरे जो बड़े पुरुष हैं, महात्माजन या जो नेता लोग हैं उन सबकी शकल को देख लो, किसी ने सजावट शृङ्खार नहीं किया । उन्हें फुरसत कहां है कि सजावट शृङ्खार करें । तो उस स्त्री को जब किसी ने न पूछा तो उसको गुस्सा आ गया, सो उसने अपनी कुटी में आग लगा दी । जब कुटी जलने लगी तब अक्ष आयी । बाहर निकलकर चिलाने लगी—अरे, दौड़ों मैं मर गयी, घर जल गया । वह कुवां है, वह रस्सी बालटी है, आग बुझावो । हाथ निकाल-निकालकर कहना पड़ा तो धोती कंधे से हट गयी । एक स्त्री ने देख लिया और बोली जीजी ये बखौर कब बनवाये थे? ये तो बड़े नौने हैं । तो वह झुलसकर कहती है, अरी रांड, पहिले से ही इतनी बात कह देती तो घर में आग काहे को लगानी पड़ती? ऐसी हठ लगी है । हठ से केवल नुकसान ही है, लाभ कुछ नहीं है । तो इस मन के विषय में भी यह जीव कितना परेशान है?

महान्धता—अंधा कौन है लोक में जो विषयों में अंधा है, वही वास्तव में अंधा है । चाहे आंखों का भी अंधा हो, पर ज्ञान और वैराग्य बना हुआ है तो उसे वास्तविक अंधा नहीं कहा जा सकता । वह अंतरङ्ग में प्रसन्न रहता है, घबड़ाता नहीं है और विषयों के अंधे घबड़ाते रहते हैं । जो घबड़ाए दुःखी होवे, जिसे मार्ग न सूझे वही तो अंधा है ।

इन्द्रियविषय में प्राणघात के उदाहरण—देखो इन पांच इन्द्रियों में से एक-एक इन्द्रिय के विषय के लोभ में आकर विषयों के लोभ में जीव प्राण गंवा देते हैं । काम में अंधा होकर हाथी जंगल में पकड़ा जाता है । हाथी पकड़ने का और कोई आसान तरीका नहीं है । केवल हाथी के पकड़ने का तरीका यही है कि एक बहुत बड़ा गड़ढा बनाकर उस पर पंचें बिछा देते हैं, एक झूठी हथिनी उस पर बनाते हैं, स्पर्शन इन्द्रिय के वशीभूत होकर हाथी आता है और गड़ढे में गिर जाता है । रसना इन्द्रिय के वश में आकर मछली अपना कंठ फंसा लेती है, ग्राण इन्द्रिय के वश में आकर भंवरा भी कमल के कोमल पत्तों में छिपकर अपने प्राण गँवा देता है । चक्षुरिन्द्रिय के लोभ में पतंगे दीप पर पड़कर जल जाते हैं, कर्णइन्द्रिय के लोभ में आकर ये सांप और हिरण पकड़ लिए जाते हैं । ये जीव एक-एक इन्द्रिय के वश में होकर अपने प्राण गंवा देते हैं । तो जरा इस मनुष्य जीवन पर दृष्टि डालो । क्या यह किसी एक विषय का लोभी है? यह छहों विषयों का लोभी है । तो इस मनुष्य की क्या स्थिति है?

विषयविरति व निजरति का कर्तव्य—मैया ! इतना उत्कृष्ट यह मनुष्य-देह पाया और अब विषयों में ही

अंधे बने रहें, तो जैसे जो जितने ऊँचे चढ़कर गिरता है उसको उतनी ही अधिक चोट लगती है, इसी तरह बड़ी ऊँची मनुष्यदेह की स्थिति में आकर यदि यह जीव गिर गया तो बहुत नीची दुर्गतियों में जायेगा । हम सबका कर्तव्य है कि विषयों से मुख मोड़ें, ज्ञान और दर्शन में बढ़े, इस धन वैभव को महत्व न दें, किन्तु आत्मज्ञान और सदाचार इनको महत्व दें, ज्ञान और चारित्र का पालन करके अपने जीवन को सफल करें ।

श्लोक (३६)

आशागर्त: प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम् ।

कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता ॥ ३६ ॥

विषयों के चाह की व्यर्थता—इस लोक में प्रत्येक प्राणी के हृदय में आशा रूपी गड्ढा इतना बड़ा बना हुआ है कि जिसमें यह सारा विश्व भी आ जाये तो भी वह अणु की तरह मालूम होगा । जगत् में वैभव तो उतना ही है जितना है और प्रत्येक मनुष्य के चित्त में आशा का गड्ढा इतना बड़ा है कि सारा विश्व भी इस गड्ढे में समा जाये तो भी वह अणु की तरह होगा । अब बतलावों जिसका सारा विश्व चाहने वाला है, किस-किसके पास यह विश्व आये? इन विषयों की चाह करना बिल्कुल व्यर्थ है ।

संसारियों का संज्ञावों से पीड़ितपना—अनादि काल से इस संसार में रुलते-रुलते यह मनुष्यजन्म पाया है । इसका यह अनन्त काल आहार, भय, मैथुन और परिग्रह—इन चार संज्ञावों में व्यतीत हुआ है । पेड़ हुए वहाँ भी ये चार संज्ञाएँ हैं । मिट्टी जल का लेप्याहार से आहार ग्रहण किया । भय भी उनमें अंतः पड़ा हुआ है । उनके भय व्यक्त करने की सामर्थ्य नहीं है । न हाथ पैर हैं, न कुछ हिला सकते हैं, हवा चले तो हिले, पर कोई काटे छेदे तो भय के कारण वह कुछ इशारा कर सके, ऐसी सामर्थ्य नहीं है, लेकिन भयशील वह भी है । मैथुन कामवासना उन एकेन्द्रिय तक में भी पड़ी हुई है । यद्यपि उस मैथुन की व्यक्ति का कोई वहाँ साधन नहीं है, केवल शरीर ही शरीर है, कोई अङ्गोपांग भी नहीं है, पर कर्मों की प्रेरणा कैसी विचित्र है कि यह वासना उन एकेन्द्रिय तक के भी समारी हुई है । परिग्रहसंज्ञा इनकी जड़ों की करतूत से विदित होती है । ये चारों संज्ञायें एकेन्द्रिय से लेकर, चतुरिन्द्रिय तक तो सबके हैं ही, अकषाय साधुवों को छोड़कर सब पञ्चेन्द्रियों में भी हैं । परिग्रहसंज्ञा तो यहाँ सभी जीवों में पड़ी हुई है किसके पास कितना भी परिग्रह आ जाये, पर इससे अधिक की जो तृष्णा लगी हुई है उस तृष्णा के कारण वर्तमान में पाये हुए परिग्रह का भी आराम नहीं भोगा जा सकता है । यों परिग्रहसंज्ञा भी इस जीव में अनादि से वासित चली आयी है । कठिनाई से आज यह नरजन्म पाया, इसमें भी अपने आत्मस्वरूप के ज्ञान की ओर चेष्टा न करें और बाहरी वाहवाही में और विषयों की साधना में अपने उपयोग को लगा दें तो बतावो वहाँ लाभ क्या पाया ? ऐसा उत्कृष्ट भव भी इन विषयवासनावों में गवां दिया तो क्या लाभ पाया ?

मोह की विडम्बना—अहो ! संसार के सभी जीव अपने से अत्यन्त भिन्न हैं और स्वरूपदृष्टि से सभी जीव अपने समान हैं, पर मोह का प्रताप तो देखो कि घर के दो चार जीवों को तो सब कुछ मान लिया और गैर

जीवों में चेतना भी है इतना तक भी सोचने की फुरसत नहीं होती है। यह है मोह का विकट नृत्य। प्रत्येक प्राणी में आशा का गड़ा इतना बड़ा है कि सारे विश्व की सम्पदा भी आये तो भी वह परमाणु की तरह एक ओर पड़ी रहती है। और हैरानी इस बात की है कि जमीन के गड्ढे तो कूड़ा कचरा से भरकर पूरा किया जा सकता है, किन्तु यह आशारूपी गड़ा ऐसा विचित्र है कि जितना कूड़ा बढ़ता जायेगा उतना ही यह गड़ा बढ़ता जायेगा। वाह रे विचित्र गड्ढे! इन मोहियों का यह ऐसा भावात्मक गड़ा है कि जैसे-जैसे सम्पदा बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे यह चौड़ा होता जाता है। अहो! यह आशारूपी गड़ा सभी प्राणियों में पड़ा हुआ है। इसमें तीन लोक की विभूति भी अणु की तरह एक ओर सूक्ष्म पड़ी हुई दिखती है।

तृष्णा की दौड़—भैया! ! यह मनुष्य ही जीर्ण होता जाता है, पर तृष्णा जीर्ण नहीं होती। यह मनुष्य ही तृष्णा से थक जाता है पर मनुष्य की तृष्णा नहीं थकती है। तृष्णा एक व्यर्थ का परिणाम है। हाँ, गृहस्थी में जरूरत होती है सम्पदा की, उसके बिना काम नहीं चलता, पर तृष्णा किए बिना तो काम चल सकता है। सम्पदा बिना न चलेगा गृहस्थी का काम, पर तृष्णा बिना तो चल सकता है। ज्ञानी गृहस्थ में इतना साहस होता है कि आज जो कुछ भी समागम मिला है, वैभव मिला है इसका १००वां हिस्सा भी कदाचित् रहता तब भी इस ज्ञानानन्दघन आत्मा का कुछ बिगड़ नहीं है, ऐसा साहस बना है। अरे इन मोही जनों से जो स्वयं मायास्वरूप हैं इनमें क्या चाह की जाये? कुछ प्रशंसा के शब्द सुन लिये तो इतने से कौन सा काम निकलेगा? जो आज धन की होड़ परिजन की होड़, यश की होड़ लगायी जा रही है यह व्यर्थ का ही काम है। अरे ये सभी मायामय चीजें हैं, मिटने वाली हैं, कुछ भी यहाँ सदा न रहेगा। किसकी आशा लगाते हो, किसकी तृष्णा करते हो, विराम लो, आत्मविश्राम पाओ।

विनश्वरता—एक सेठ था। उसने एक बड़ी ऊंची हवेली बनवाई और उसका उद्घाटन करने के लिए नगरवासियों को आमंत्रित किया,। सभी लोग जुड़ आये। सेठ ने कहा—अरे भाइयो! इस हवेली में कोई भी त्रुटि हो तो बतावो चाहे सारी हवेली गिरवानी पड़े, पर उसको अभी ठीक करवाऊँगा। सब ने कहा—महाराज इसमें कोई त्रुटि नहीं है। एक व्यक्ति उठकर बोला—महाराज इसमें दो त्रुटियां हैं। सेठ ने पास बैठे हुए इंजीनियर को आदेश दिया कि तुम इसकी बात सुनो और जो भी त्रुटि रह गयी हो उसको सुधार लो तो वह पुरुष बोला—महाराज इसमें एक त्रुटि तो यह है कि यह मकान सदा न रहेगा। ओह! इतनी बात सुनकर सेठ के छक्के छूट गए। इंजीनियर भी क्या करे। कहा—अच्छा भाई दूसरी त्रुटि बतावो। तो कहा—महाराज दूसरी त्रुटि यह है कि इस मकान का बनवाने वाला भी सदा न रहेगा। ओह! इस त्रुटि को कौन मिटा सकता है? तो एक मकान की ही बात नहीं है, सभी की यही दशा है। जो कुछ भी व्यापार होता है, वचन व्यवहार होता है, अनुराग बढ़ाया जाता है, रिश्तेदारी बढ़ती है, वह सब इसी में शामिल है। न ये सब सदा रहेंगे और न यह मानने वाला भी सदा रहेगा।

विषयों की अनर्थता व व्यर्थता—अहो, क्यों विनश्वर की ओर झुककर अविनश्वर को बरबाद कर रहे हो? अपने आपमें गुप्त होकर अपने आपके स्वरूप का मनन तो करो। यह सारी संपदा गिनी चुनी है। इनकी

आशा करने वाले, अर्थात् वैभव समृद्ध होने की धुन रखने वाले अनेक लोग हैं। किस किसके अन्तर की बात कही जाये, इस कारण किसी भी विषय की अभिलाषा करना व्यर्थ है। पञ्चेन्द्रिय के विषयों के भोग की बात निरखो तो किसी भी विषय का अंतिम फल अच्छा नहीं निकलता। स्पर्शन इन्द्रिय का विषय, कामवासना विषयक वाञ्छा बाधा, इनका भी अंतिम फल अच्छा नहीं निकलता। खाने पीने की धुन बनाना, रसीले भोजन करना इनसे भी आखिर अन्त में जीव को क्या लाभ पहुंचता है? सभी विषयों की वासना अनर्थ ही करने वाली है। जितने भी जो कुछ दृश्यमान् पदार्थ है वे ही स्वयं यथार्थ नहीं हैं। अनेक पुद्गल परमाणुओं का ढेर है, उनके बन्धन से आज ये इस शक्ति में स्कंध दिख रहे हैं। आज है कल न रहेंगे।

मायारूपता—भैया! ! यह शरीर भी जो हम आपने पाया है यह भी अनेक परमाणुओं का पुञ्ज है। जाने आने वाले परमाणुओं का ढेर है। यह भी बिखर जायेगा, न रहेगा। यह संसारी आत्मा कल्पना में पड़ा हुआ बना रहता है। आज इस मनुष्यभव में हैं इस कारण ऐसी कल्पना करते हैं, यह देह छोड़कर यदि हाथी घोड़ा आदि के पर्याय में पहुंचे तो हाथी घोड़ा जैसी कल्पनाएँ कर ली जाती हैं। जैसा भव मिलेगा वैसी कल्पना उनमें होगी। यह जंगम जगत् भी सब असार है और मायारूप है। किसी भी पदार्थ को देखकर मोहित होना बिल्कुल मूढ़ता है। अरे व्यर्थ क्यों रातदिन बाह्यदृष्टि ही लिए रहते हो? अपने आप पर कुछ दया करके ५ मिनट भी तो अपने उपयोग को आत्मचिन्तन में लगाना चाहिए। जितने मिनट अपने आत्मा के स्वरूप की सुध रक्खी जायेगी उतने मिनट तो आपके सफल से और जितना समय केवल बाहरी चीजों में ही उपयोग लगाने में व्यतीत होगा उतना समय बेकार है।

मूर्छा का फल—यह आत्मा तो स्वतंत्र एकाकी है। न यह कुछ साथ लाया है और न कुछ साथ ले जायेगा। यह तो केवल भावनामात्र है। इसका स्वरूप तो ज्ञान ओर आनन्द है। विकार अवस्था में यह ज्ञान और आनन्द का विकार परिणमन करता है और शुद्ध अवस्था में ज्ञान और आनन्द का विशुद्ध परिणमन करता है, पर ज्ञान और आनन्दस्वरूप को तजकर इसमें और कुछ नहीं बसा हुआ है। न इस आत्मा में रूप है जो आंखों से देख लिया जाये, न रस है जो जिह्वा से चख लिया जाये, न आत्मा में गंध है जो नाक से सूँघ लिया जाये, न शब्द है जो कानों से सुन लिया जाये। यह आत्मा छुवा भी नहीं जा सकता। और वस्तुतः तो इसे अग्नि जला भी नहीं सकती, पर विश्वास नहीं है, इस देह को ही आत्मा माना है। इस कारण ऐसी प्रतीति होती है कि मैं अमुक रंग का हूँ, इतना लम्बा चौड़ा हूँ। नाना प्रकार की प्रतीति इस देह के रंग ढंग से देखकर अपने आत्मा में बना ली जाती है। यह मैं आत्मा सर्वकलंकों से मुक्त केवल ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ। करना क्या है जीवन में सोचते जाइए। मान लो एक धन कमाने की धुन है तो हजार आयें, लाख आयें, करोड़ आयें, इसके साथ-साथ वृद्ध भी तो होंगे। सोचते जाइए, फिर क्या होगा? जीर्ण हो गए, फिर क्या होगा? जब शारीरिक बल नहीं रहता है तब और प्रकार की चिन्ताएँ होने लगती हैं। अन्त में क्या होगा, इस देह को भी छोड़कर जाना होगा। अपने जीवन में जो भी पुण्य अथवा पाप के कार्य किये हैं उनका फल भोगना होगा।

परिणामविशुद्धि की सावधानी की आवश्यकता—भैया ! अपने को सावधान रहने की जरूरत है कि इस जीवन में मेरे से अन्याय का कोई कार्य न हो । कदाचित् अन्याय किया जानें से कुछ द्रव्य आते भी हों तो भी वे विष है, प्राणहारी हैं । अन्याय से प्राप्त किए हुए धन से इस जीव की बरबादी ही है और प्रथम तो यह बात है कि अन्याय करने से धन न मिलेगा किन्तु हमारे पुण्य का उदय ही था, मिलना ही था, सो हम न्यायरूप रहते तो मिलता, न रहते न्यायरूप तो मिलता, पर न्यायरूप रहते तो कुछ अधिक भी मिलता । अन्यायरूप रहने से तो पुण्यरस कम हुआ, पाप का बल विशेष बन गया और कहो समृद्धि उससे भी कम मिले । अन्याय करना कभी भला नहीं होता है ।

देवपूजा में धर्मपालन—आचार्य महाराज ने गृहस्थों के लिए जो ६ कर्म बताये हैं, उन ६ कामों में श्रावक के कल्याण योग्य सभी तत्त्वों की पूर्ति हो जाती है । प्रभु का पूजन, गुणस्मरण करना, अपने विषयकषायों का हटाना और श्रद्धापूर्वक वीतराग निर्दोष सर्वज्ञ ज्ञानानन्दपुञ्ज प्रभु में उपयोग लगाना । देखिये इसमें कितना चमत्कार भरा है ? अरे जो मोह रागद्वेष का बोझ रातदिन लदा रहता था, उस बोझ को कम करके यह गृहस्थ प्रभुभक्ति में लीन हो रहा है । इस आनन्द को और घर पर रागभरी गप्पे करते हुए आनन्द को देखो इन दोनों स्थितियों में कितना अन्तर है ? प्रभुभक्ति में विशुद्ध आनन्द जगा है, रागद्वेष विषयसाधन आदि अनेक कलुषताओं से रहित केवल आत्मा के नाते से आनन्द जगा है और घर पर विषयवासनाओं में उपयोग रखकर जो मौज माना जा रहा है वह रीता मौज है, वह परिपूर्ण मौज नहीं है, तृष्णा और आकुलता से भरा हुआ मौज है ।

गुरुसेवा में धर्मपालन—गुरुसेवा यह भी एक अलौकिक पुरुषार्थ है । अनादि काल से अज्ञान अन्धकार में अन्ये हुए प्राणियों को ये गुरुजन ज्ञानअञ्जन की सलाई से भीतर की आंखों को खोल देते हैं । जिस पुरुष को यथार्थस्वरूप नहीं सूझता है, हित अहित का यथार्थ निर्णय नहीं जगता है वह पुरुष प्रसन्न नहीं रह सकता, उसे शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती । इन जड़ पदार्थों में दिल रखे रहने से, उपयोग बसाये रहने से कौनसी शान्ति मिलती है न कभी शान्ति मिली और न कभी मिलेगी । यह त्रिकाल ध्रुव सत्य है । यदि सम्पदा के परिग्रहण में शान्ति और संतोष मिलता तो बड़े-बड़े तीर्थकर चक्रवर्ती समस्त वैभव को त्यागकर क्यों आकिञ्चन्यभाव में रत हुए थे ? परपदार्थों के उपयोग में आत्मा को मोक्ष का मार्ग नहीं मिलता है । अरे जो चीज मिट जायेगी, विनश्वर है उसका उपयोग कहां लाभ दे सकता है ?

ज्ञानवैभव का महत्त्व—अहो ! आनन्द का निधान स्वयं का परमात्मा भगवान् स्वयं के अन्तर में तो विराजा है और उसे देखने की सुध नहीं की जा रही है, बाह्यविषयों में ही आसक्ति दौड़ रही है, ऐसे जीवन से जीव को कुछ लाभ नहीं है । अपना सर्वस्व भी यदि न्यौछावर हो जाये, जो कुछ भी जड़ विनश्वर वस्तु पायी है, और यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति हो जाये तो उसने सब कुछ पाया । ये धन कन कंचन राज सुख सम्पदा ये सब सुलभ है, किन्तु यह आत्मा अपने स्वरूप का यथार्थ बोध कर ले, यथार्थ श्रद्धान् कर ले और इसही रत्नत्रय के वश में लीन हो सके—ऐसी परिस्थिति होना बहुत दुर्लभ चीज है । कल्पना करो कि जो वैभव पाया

है उससे भी करोड़ गुना वैभव पूर्व जन्मों में भी पाया था । अब उसके पाने का यहाँ क्या प्रसंग और सम्बन्ध है, उससे कुछ लाभ है क्या ? करोड़ गुना पाया और छोड़ना पड़ा, उसके सम्मुख तो आज का पाया हुआ कुछ भी नहीं है और जो कुछ भी हैं यह भी चंद दिनों के बाद छोड़कर जाना होगा ।

अस्थिर निवास—एक साधु महाराज एक नगर में से निकले । एक बड़ी हवेली देखकर हवेली के द्वार पर खड़े हुए चपरासी से पूछते हैं कि यह धर्मशाला किसकी है? चपरासी बोला—महाराज ! धर्मशाला तो आगे है, थोड़ी दूर है, वहाँ पर ठहरियेगा । यह धर्मशाला नहीं है । तो साधु बोला कि मैं ठहरना नहीं चाहता, मैं तो यह जानना चाहता हूँ कि यह धर्मशाला किसकी है । वह बार-बार मना करे कि यह धर्मशाला नहीं है, आगे जाइए । वह पूछता जाये कि बतावो यह धर्मशाला किसकी है? जिस सेठ का मकान था उसने साधु को बुलाया और कहा, महाराज हुकुम हो, यह धर्मशाला तो नहीं है पर आप शौक से ठहरें । धर्मशाला तो आगे है, यह तो अपना मकान है । साधु ने पूछा कि इसे किसने बनवाया था? सेठ बोला कि मेरे दादा ने बनवाना शुरू किया था । फिर वह कितने दिन इसमें रहे? वह तो पूरा बनवा भी न सके थे कि गुजर गए । फिर किसने बनवाया? फिर मेरे पिता ने बनवाया था । वह बनवाकर कितने दिन रहे सेठ ने कहा—महाराज वह तो मुश्किल से ५ वर्ष ही रहे थे और तू इसमें कितने दिन रहेगा? बस सेठ की आंखें खुली । साधु के चरणों में गिरकर सेठ बोला—महाराज, हम आपकी बात का राज न जान रहे थे ।

धर्म की सर्वदा आवश्यकता—अरे यहाँ का पाया हुआ वैभव किसी के साथ न रहेगा । केवल आब विशुद्ध बना लो । भावों तक ही हम आपका कर्तव्य है । भावों की निर्मलता से ऐसा सातिशय पुण्य बंध होता है कि यह तो चीज क्या है? क्या किसी के हाथ पैर धन कमाया करते हैं यह तो उदयाधीन बात है । सेठों जैसे ही हाथ पैर अनेकों के हैं, पर किसी के लक्ष्मी आती है, किसी के नहीं आती है । इसका कारण क्या है? इसका कारण है पहिले का किया हुआ धर्म । अब वर्तमान में हम धर्म की ओर न लगें तो यह कब तक चलेगा? कर्तव्य है यह कि चाहे कोई सुखी हो, चाहे दुःखी हो, धर्म तो सदैव करना चाहिए । सुखी होगा तो धर्म के प्रसाद से उसके सुख बढ़ेगा, दुःखी होगा तो धर्म के प्रसाद से उसका दुःख दूर होगा । धर्म तो सदैव करने की चीज है । धर्म हाथ पैर चलाने का ही नाम नहीं, किंतु परद्रव्यों से मोह हटना धर्म है । परद्रव्य के मायने एक आत्मस्वरूप के सिवाय जितने भी पदार्थ है, चाहे भले ही लोक में अपने माने जाते हों, वे सब परद्रव्य हैं । भीतर में ऐसा ज्ञानप्रकाश हो कि ये सभी परपदार्थ हैं, इनसे मैं न्यारा हूँ, ज्ञानानन्दमात्र हूँ । उस विविक्त स्वरूप में ही मस्त रहना, उसके उपयोग में ही मग्न रहना, यही है ठीक धर्म का पालन । इस ही धर्मपालन में झुकने के लिए हमारे ६ आवश्यक कार्य है । गुरुपास्ति से, गुरुसेवा से हमारा श्रद्धान् भी निर्मल बनता है और चारित्र भी निर्मल बनता है, ज्ञान का भी विकास होता है ।

स्वाध्याय, संयम, तप व दान में धर्मपालन—स्वाध्याय से मेरा कल्प्याण कैसे हो, इस भावना को रखकर जो ग्रन्थ का स्वाध्याय किया जाये वह आत्मा में प्रकाश लाता है और अनेक आकुलतावों को दूर कर देता है । प्रयोग करके देख लो । आप किसी कष्ट में हों और रामचरित्र या अन्य पुराण पुरुषों के चरित्र भी लेकर

बैठ जावो तो आपकी आकुलता कम हो जायेगी । संयम, तप और दान । ये तीन कर्तव्य भी गृहस्थ के प्रतिदिन के काम है । जरूरी तो छहों काम है, इन्हें प्रतिदिन करना चाहिये । संयम से चारित्र की वृद्धि तप से चारित्र की वृद्धि और दान से श्रद्धा की वृद्धि प्रधानता से है । यों श्रावक के ६ कर्तव्यों में धर्म का पालन भरा हुआ है । जितनी ही मोह ममता दूर हो, समझो हम उतना ही धर्मपालन कर रहे हैं । अपने भीतर में परखकर यह निर्णय करना चाहिए कि मेरे मोह ममता कम हुई या नहीं । यदि मोहममता कुछ कम हुई तो उसका संतोष कीजिए । न कम हो मोह ममता तो ज्ञान भावना करके उसके कम करने का यत्न करना चाहिए ।

श्लोक (३७)

आयुः श्रीवपुरादिकं यदि भवेत् पुण्यं पुरोपार्जितं ।
स्यात् सर्वं न भवेन्न तच्च नितरामायातितेऽप्यात्मनि ॥
इत्यार्याः सुविचार्य कार्यकुशलाः कार्येऽत्र मन्दोद्यमा ।
द्रागागामिभवार्थमेव सततं प्रीत्या यतन्तेतराम् ॥ ३७ ॥

पूर्वोपार्जितकर्मफल—इस जीव को इस अब में जो उत्तम समागम मिला है, दीर्घआयु लक्ष्मी सम्पदा का समागम, सुन्दर शरीर आदिक जो कुछ मिला है वह सब पूर्व कमाया हुआ पुण्य का फल है । जिसके पूर्व अर्जित पुण्य है उसको ये सब समागम मिलते हैं और जिसके पूर्व अर्जित पुण्य नहीं है वह कितना भी श्रम कर डाले तो भी उसे ये समागम प्राप्त नहीं होते हैं । जहाँ विशुद्ध भाव है, मंद कपाय है वहाँ पुण्य अर्जित होता है । जहाँ संक्षेप परिणाम है, अज्ञानमय अवस्था है वहाँ पापकर्म अर्जित होते हैं । किसी भी परपदार्थ में, सम्पदा वैभव में, परिजन मित्र में यह मेरा है, इससे मेरा बड़प्पन है इस प्रकार की आसक्ति का जो भाव है वह ही मूल में पाप है । जब अज्ञान बुद्धि रहती है, अपने आपकी भिन्नता का परिचय नहीं रहता है, तब फिर इस परिग्रह के बढ़ाने के लिए, अपने विषयसाधनों का पोषण करने के लिए यह जीव फिर अन्याय के भी काम करने लगता है । सब पापों का, अन्यायों का मूल है स्वपर विवेक का अभाव ।

ज्ञान में भ्रष्टाचार निरोधकता—आज देश में सब जगह से यह आवाज आ रही है कि देश में अन्याय बहुत है, भ्रष्टाचार की अधिकता हो गयी है सारी प्रजा दुःखी है और भ्रष्टाचार के निरोध के लिए कुछ व्यक्ति भी नियुक्त किये जाते हैं, पर जो भ्रष्टाचार के निरोध के लिए नियुक्त होते हैं वे भी भ्रष्टाचार करने लगते हैं । कोई उपाय है ऐसा कि लोक में फैलता हुआ भ्रष्टाचार समाप्त हो जाये? उपाय एक सम्यक्परिज्ञान है । जब जनता में अधिकांशरूप से यह भावना बन जाये कि यह मैं जीव केवल अपने स्वरूप मात्र हूँ अकेला ही जन्मा हूँ, अकेला ही मरना होगा, अकेला ही सुख दुःख का भोगी हूँ । जो कुछ बीतती है मुझमें यह सब अकेले पर होती है । इस मेरे का मेरे सिवाय और कोई साथी नहीं है । यह दुनिया का समागम चंद दिनों का है अन्त में बिछुड़ेगा । इन असार बिछुड़ने वाले वैभवों के पीछे अन्याय करके अपना धर्म बिगाड़ना अपनी

दुर्दशा करना यह उचित नहीं है। इतनी बात जब तक दिल में न समायेगी तब तक यह भ्रष्टाचार बंद न हो सकेगा।

कर्मफल की भाविता—भ्रष्टाचार केवल रिश्तत लेने आदि का ही नाम नहीं है। कौन नहीं जानता है कि यह अन्याय किया जा रहा है? अन्याय की बात छुपे-छुपे की जाती है। कोई रिश्तत लेता है तो खुलकर नहीं लेता। यदि दो चार लोगों के बीच भी लेता है तो वह खुला हुआ रूप नहीं है। उन सबमें ढका हुआ रूप है। अन्याय की प्रवृत्ति खुले रूप में नहीं होती है। उसमें न्याय का सचाई का बाना सामने रखना पड़ता है। धर्म की ओट करके ही अधर्म का विस्तार लोगों के द्वारा किया जाता है। ये सब पापकार्य हैं और इन सब पापकार्यों के करते हुए भले ही पूर्व पुण्य के प्रसाद से आज कुछ स्थिति ठीक हो तो भी वे सब पाप के परिणाम अवश्य आगे फलेंगे। किये हुए सुकृत अथवा दुष्कृत यों ही निष्फल नहीं चले जाते।

घात व असत्य पाप में हिंसारूपता—पाप तो वास्तव में हिंसा का नाम है, पुण्य अथवा धर्म अहिंसा का नाम है। जो लोक में पाप कहे गए हैं वे सब हिंसारूप हैं और जितने धर्म बताये गए वे सब अहिंसा के रूप ही किसी न किसी तरह में हैं। जैसे किसी का दिल दुखाना वह तो प्रकट हिंसा है। किसी का प्राण हरना अथवा किसी को मारना, विचारना यह भी प्रकट हिंसा है। पर झूठ चोरी आदिक के कर्म भी वास्तव में हिंसा ही है। जो अपने आपके ज्ञान दर्शन प्राणों का घात करे, अपना विवेक सब खो दे, अंधा बना दे, सही मार्ग न सूझे वह सब हिंसा ही तो है।

किसी पुरुष के बारे में झूठ बोल दिया, यह अपने आपमें संक्लेश और अशुभ भाव बनाये बिना नहीं होता। दूसरे के झूठ बोलने से जान जाता है अथवा उसका नुकसान होता है, उसका प्राण दुखता है। यह जान रहा है कि यह बात झूठ है तब भी वह बोलता है तो हिंसा कर रहा है। किसी की चुगली निन्दा करना, अपयश भरा मजाक करना ये सब बातें अपने आशय में संक्लेश बनाये बिना, अशुद्ध आशय किए बिना नहीं हो सकती। इस कारण ये सब पाप हैं, हिंसा है।

चोरी पाप में हिंसारूपता—चोरी केवल किसी की नजर बचाकर, धन चुरा लेने का ही नाम नहीं है, वह तो चोरी है ही, किन्तु जो बात इंसानियत के नाते न करना चाहिए उस बात को दूसरे की नजर छुपाकर करना वह सब चोरी है। रिश्तत देना, रिश्तत लेना अथवा किसी वस्तु में कोई अल्पमूल्य वाली वस्तु मिला देना, लेबल बदल देना, जो-जो काम प्रसिद्ध किए बिना, गुप्त ही रखकर किए जाते हैं, छिपाकर किए जाते हैं वे सब काम चोरी के काम हैं। बस जो काम छिपाकर किये जाते हैं और जिसमें धन हरण की बात भी है, किसी भी प्रकार हों, वह सब चोरी है। भ्रष्टाचार जिसका नाम रखना है वह सब चोरी में गर्भित है।

कुशील व परिग्रह पाप में हिंसारूपता—कुशील, जैसे चोरी प्रकट हिंसा है इसी प्रकार कुशील नामक पाप भी हिंसा ही है। जो पुरुष अथवा स्त्री किसी परपुरुष या स्त्री से नेह लगाता है उसे ये सब छुपकर करने होते हैं और उस कुशील में फिर सभी पाप आ जाया करते हैं। वह पुरुष झूठ भी बोल सकता है, चोरी भी कर सकता है, अनेक व्यसन उसमें आ जाते हैं। उससे अपने भी ज्ञानदर्शन का घात हुआ, अपने में विकार बढ़ा,

ऐसा प्रलोभन हुआ, अंधकार सामने आया । इस भव भी दुर्दशा और परभव में भी दुर्दशा होगी । कुशील जैसा पाप भी हिंसा ही है ।

कोई पुरुष यह सोचता हो परिग्रह के सम्बंध में कि हम अपनी कमाई करते हैं, पैसा आता है, जुड़ता है, यह तो पाप न होगा, पर किसी वैभव में आत्मीयता की जो श्रद्धा बनी है उसके प्रति जो तृष्णा का भाव बना है उससे आत्मा के स्वरूप का घात ही होता है । ज्ञानदर्शन निर्विकार नहीं रह सकता । उसमें जो राग की कालिमा अधिक पड़ी हुई है वह भी हिंसा ही है । पाप जितने हैं वे सब भी हिंसा ही है । जो जीव हिंसा को अपनाता है उसे लौकिक सुख के भी साधन नहीं मिलते ।

सांसारिक सुख दुःख में आनन्दरिक्तता—यह धन मिलना, उत्तम कुल मिलना बड़ी आयु मिलना, बलधारी निरोग शरीर मिलना—ये सब पूर्वभव में जो पुण्य उपार्जित किया है उसका फल है । जिनके पुण्य नहीं हैं वे कितना भी श्रम करें पर ये सब लौकिक सुख के साधन उन्हें नहीं मिलते हैं—ऐसा विचार करके जो श्रेष्ठ पुरुष हैं, जो हितकार्य में कुशल हैं, विवेक शील हैं, वे यहां के कार्यों में तो मंद उद्यम रखते हैं और आगामी भव के लिए वे अपना योग्य परिणामन करते हैं । इस भव की बातों में ही अपना सर्वस्व उपयोग लगा दिया जाये जो कुछ शक्ति प्राप्त की है उसका व्यय इस लोक के सुख के लिए ही किया जाये तो इससे आत्मा का क्या पूरा पड़ेगा? ये सांसारिक सुख भोगने से तो आत्मा में और रिक्तता आती है क्योंकि ये सुख काल्पनिक हैं, इनकी जड़ खोखली है । इनमें केवल अपना एक रिक्त भाव और शून्य जैसा अनुभव करना होता है तब ये हर्ष आदिक प्रकट होते हैं । मूलतः ठोसरूप ये सुख नहीं है, अन्यथा पीछे दुःखी होने की आवश्यकता न होती ।

सांसारिक सुख की मायारूपता—जो सुख अपने फल में दुःख लावे वह समूल सुख नहीं है । ये भव सांसारिक सुख अंत में दुःख के कारण बनते हैं । इन भौतिक साधनों में जो तृष्णा रखता है उसे इसके फल में नियम से विपदा भोगनी पड़ती है । जिसका अधिक मोह होता है स्त्री में, पति में, मां में, पिता में किसी के भी प्रति अधिक मोह होता है । विवेक का भी उल्लंघन करके अपने आपको भी जरा भी न संभाल कर जो मोह होता है उसके फल में इसका बहुत बिगड़ होता है । दिल काबू में नहीं रहता, दिमाग भी फिर काम करने वाला नहीं रहता, बरबादी ही हो जाती है । स्वच्छन्द होकर इन परिग्रहों में बुद्धि फँसाना यह बहुत खतरे की चीज है । जिन्हें अपना आगामी समय आनन्द में व्यतीत करने का भाव हो उनको यह तपश्चरण करना ही होगा कि मिली हुई चीजों में वे आसक्ति न करें और हर्षमग्न न हों । अरे किन चीजों में हर्ष माना जाये, ये सब चीजें कुछ समय को मिली है, अंत में विघट ही जायेंगी, कोई साथ न रहेगा ।

धर्मयत्न का विवेक—भैया! इन विनश्वर वस्तुओं के पीछे अपने अविनश्वर आत्मा को बरबाद करना यह विवेक नहीं है । जो कार्यकुशल पुरुष होते हैं, विवेकशील होते हैं वे इस भव के कार्य में तो उद्यम कम करते हैं और परभव के कार्य के लिए उद्यम अधिक करते हैं । यहाँ अधिक उद्यम करने से फायदा भी कुछ नहीं है । उदय विपरीत है तो कितना भी उद्यम करो उससे लाभ नहीं मिलता । इसलिए प्रत्येक स्थिति में चाहे गरीबी

हालत हो, चाहे रईसी हालत हो, धर्म का पालन करना अत्यन्त आवश्यक है। सर्वसुख धर्म के प्रसाद से ही मिलता है।

पुण्य में अनुकूलता—एक राजा घोड़े का बड़ा शौकीन था। उसने मंत्री को भेज दिया विदेश में कि जावो कोई अच्छी नस्ल का घोड़ा मिले तो ले आवो। एक सेठ के बहुत अच्छा घोड़ा था। उसने मंत्री को यों ही पुरस्कार रूप में घोड़ा दे दिया कि महाराज साहब को यह घोड़ा भेंट कर देना। दाम कुछ न लिया। राजा ने जब वह घोड़ा देखा तो बहुत पसंद आया। राजा ने खबर भेजी कि सेठजी तुम पर जीवन में कभी भी कुछ विपदा आये तो हमारा स्मरण करना, शक्ति भर हम तुम्हारी मदद करेंगे। दिनों की कौन जानता है। आज सब कुछ है कल कहो कुछ भी न रहे। सेठ का यही हाल हुआ कि डेढ़ साल के ही अन्दर लाखों करोड़ों की सम्पदा यों ही विलीन हो गयी। इस सम्पदा के विलीन होते हुए देर नहीं लगती। पाप का उदय आये, बुद्धि खोटी हो जाये तो किसी न किसी बहाने से यह सब वैभव निकल जाता है। सेठ बड़ा परेशान हुआ। वह सीधा राजा के पास ही पहुंच गया, अपना परिचय दिया तो राजा ने २० बकरियां देकर कहा कि तुम इस कमरे में रहो और इन बकरियों से अपना गुजारा करो। राजा ५-७ दिन में सेठ से मिल लिया करता था और मिलने पर पूछ लेता था कि आज कितनी बकरियां हैं तो सेठ बता देता कि आज १८ बकरियां हैं, आज १५ हैं, आज इतनी है। कुछ महीने बाद बकरियों की एकदम वृद्धि हो गयी। राजा ने पूछा अब कितनी बकरियां हैं? बोला—महाराज अब २५ बकरियां हो गयी। राजा बोला, सेठ जो अब तुम जितना धन चाहे ले लो और रोजगार करो। सेठ बोला—महाराज इतने महीने हो गए आपके यहाँ रहते हुए, आज ही क्यों कह रहे हो कि जितना धन चाहे ले लो, व्यापार करो? तो राजा बोला कि हम तुम्हारे भाग्य की परीक्षा कर रहे थे। जब तक तुम्हारा भाग्य विपरीत था तब तक कितना ही देते वह सब तुम खो देते। जब यह जान लिया कि तुम्हारा भाग्य अनुकूल हो रहा है, बकरियों की संख्या बढ़ गई तो हमने समझा कि तुम्हारा भाग्य अनुकूल चलने लगा है, तो अब हमें तुमको धन देने में कुछ हिचक नहीं है। सेठ बोला कि जब भाग्य ही मेरा ठीक हो गया तो आपसे ही मैं क्या लूँ? खैर, कथानक से यह शिक्षा लेना है कि हमारा काम तो विशुद्ध भाव करने का है।

धार्मिकता की मुख्यता—भैया! इस जीविका के कार्य में उद्यम तो करो पर इस भव के कार्य को मुख्य न समझो। मुख्य समझो भविष्यनिर्माण को, अपने आत्मीय आनन्द को। इन पारिवारिक झंझटों को महत्व मत दो। ये तो थोड़े से परिश्रम से जैसा होते हों होने दो, अपने ज्ञान को प्रबल बनावो, धर्म की रुचि करो। देखो—जब तक धन आदिक परपदार्थों से ममता का परिणाम चलता है तब तक अशान्ति बनी रहती है और जिस क्षण यह विचार बनाया जाता है कि मैं समस्त समागमों से न्यारा, देह तक से भी जुदा रागादिक और विकल्प वितर्क विचारों से भी जुदा केवल ज्ञानप्रकाशमात्र हूँ—ऐसी अपने ज्ञानमात्रस्वरूप की जब सुध होती है तब इस जीव को शान्ति मिलती है। जब तक अपने आपकी सुध नहीं है तब तक निरन्तर विडम्बना ही रहती है।

पुण्य के कुछ साधन—पुण्य के अनेक साधन हैं। सब जीवों को सुखी होने की भावना करना यह भी एक पुण्य का कार्य है। अब देखिये इसमें कुछ लगता तो नहीं है। न शरीर का कष्ट है, न अपने धन का व्यय है, लेकिन जिनका होनहार अच्छा नहीं है उनके ऐसी कषाय जगती है कि वे सबका भला नहीं सोच सकते। कुछ का भला सोचेंगे कुछ का बुरा सोचेंगे। अरे जब एक सोचने मात्र से, सबका भला सोचने से पुण्य मिलता है, आनन्द मिलता है तो इतना भी काम नहीं किया जाता। पुण्य के अनेक साधन हैं। सब जीवों का भला सोचना, सुखी होना, चिन्तन करना यह भी पुण्य का कार्य है। कोई जीव दुःखी हो, अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर उसके दुःख को दूर करना और जैसे उसे शान्ति मिल सके वैसा उपाय बनाना, यह है दया। दया से भी पुण्य की वृद्धि होती है। दान—अपने समक्ष कोई योग्य कार्य पड़ा हुआ हो, अथवा कोई दुःखी जीव नजर आये तो अपनी शक्ति माफिक वहाँ धन का व्यय करना और हर्षपूर्वक उसको अनुभव करना कि यह तो हमारे कर्तव्य का पालन है, यह है दान और अपनी इच्छा का निरोध करना चाहे अपने मन को दबाना पड़े लेकिन दूसरे सुखी रह सके, इस प्रकार का यत्न करना—ये सब पुण्य के कार्य हैं।

पुण्य के फल से इस भव में सर्व समागम प्राप्त होते हैं। भावना शुद्ध हो तो जीव को सुख अवश्य होगा। अशुद्ध भावना हो तो उसमें क्लेश का ही संबन्ध है, आगे तो क्लेश होगा ही। जब भावना के कारण ही अपने भविष्य का निर्माण कर सकते हैं, चाहे हम अपना खोटा भविष्य रच लें चाहे हम सुखमय भविष्य रच लें, वह सब एक हमारी भावना पर निर्भर है। जो चौज केवल भावनासाध्य है उसमें भी कृपण रहे, अपने भावों को भी न संभाल सकें तो फिर सुख को आशा कहाँ से की जाये ?

अन्तःस्वच्छता—लोग कहते हैं इंसानियत करो किन्तु कहने में और करने में विशेष अन्तर है। कहने को तो सभी कहते हैं, और अच्छी बात कहे बिना गुजारा भी नहीं चलता, बुरी बात का कहीं भी उपदेश नहीं होता। किसी के समक्ष उपदेश देने जावो, या किसी प्रसंग में किसी से कुछ बनाना चाहें तो धर्म की बात त्याग की बात, उदारता की बात ही बतायी जायेगी। जो बात हम दूसरों को बताते हैं उसका हम कुछ भी अंश ग्रहण न कर सकें तो वह हमारी अशान्ति के लिए है। हिंसा, द्वूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह ये ५ पाप बुरे हैं। दूसरों को इनके त्याग का उपदेश करते हैं, पर अपने उपयोग को, अपने आत्मा को इस योग्य बनावो जिससे कि अहिंसक रहें, किसी भी जीव का बुरा न सोचें। अहिंसा पालन के लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि हम ऐसा भाव बना लें कि सब जीवों के सुखी होने की भावना कर सके। किसी मनुष्य ने अपने पर अनेक आपत्ति भी डाली हों तो उन आपत्तियों का उस काल में प्रतिकार कर लेना और अपने आपमें सावधान बने रहने की सावधानी रखना, यह तो नीति और कर्तव्य में है, पर उस पुरुष का विरोध करना, उसके प्रति बुरा विचार करना, उसके घात करने बरबाद करने का परिणाम रखना—यह कर्तव्य में शामिल नहीं है।

सम्यग्दृष्टि की लोकहितभावना—सम्यग्दृष्टि पुरुष कदाचित् युद्ध में लड़ता हुआ शत्रु को मार भी दे तो भी उस शत्रु के प्रति अन्तर से अकल्याण का भाव नहीं रहता है। कैसे होती है वह स्वच्छता, ऐसा आक्रमण कर देने पर भी जिसमें उसका प्राणघात होता है, फिर भी स्वच्छता बराबर रहती है। यदि सुखी होना है तो इस

भव की आजीविका और धन वैभव के लिए अधिक चिन्तातुर न हों। पुण्योदय के अनुसार जो स्थिति मिले उसमें संतोष रखें। प्रयत्न तो भविष्य के लिए करना है और वह प्रयत्न है धर्मपालन, पुण्य का अर्जन। इस कारण धर्म और पुण्य के अर्जन में अधिक प्रीति करना यह ही हमारा पुरुषार्थ हमें अच्छे मार्ग में लगा सकेगा। हम मन से सबका भला विचारें, वचनों से हित की बात बोलें। शरीर से दूसरों का दुःख हरें और विनश्वर धन को पुण्य में उपकार में व्यय करके उसका फल पायें, यह हम सबका कर्तव्य है।

श्लोक (३८)

कः स्वादो विषयेष्वसौ कटुविषप्रख्येष्वलं दुःखिना ।

यानन्वेष्टुभिव त्वयाऽशुचिकृतं येनाभिमानामृतम् ।

आज्ञातं करणैर्मनः प्रणिधिभिः पित्तज्वराविष्टवत् ।

कष्टं रागरसैः सुधीस्त्वमपि सन् व्यत्यासितास्वादनः ॥ ३८ ॥

अतीत और वर्तमान स्थिति—यह जीव अनादि से है और अनन्तकाल तक रहेगा। अब तक इसने संसार की नाना पर्यायें बदली हैं। कभी निगोद में था, एकेन्द्रिय हुआ, विकलन्त्रय त्रस हुआ, पञ्चेन्द्रिय हुआ। आज मनुष्य है। अब इसके बाद भी कुछ बनेगा। ऐसा अनेक देहों में बदलते हुए यह जीव आज इस स्थिति में है कि अब दूसरे को अपने मन की बात बता सकता है, दूसरे के मन की बात समझ सकता है। वाग् व्यवहार, व्यापार शृङ्खार, बोलचाल, भाषणकला, संगीत—ये सब भी बहुत सी उच्च बातें इस मनुष्यभव में मिली हैं, लेकिन कर्तव्य यह है कि विषयों में ही इस भव को न गवाकर अपने आत्मध्यान से मनन से धर्म का पालन करना चाहिए।

विषयविष—ये विषय सुखकारी नहीं हैं, कड़वे विष की तरह है, जैसे विषफल इन्द्रायण फल देखने में बहुत ही सुन्दर लगता है। जो खेतों की बाड़ पर लटके हुए फल होते हैं, चिकने रंग बिरंगे बहुत सुन्दर जँचते हैं, किन्तु उनके खाने का फल मरण है। ऐसे ही ये वर्तमान विषयभोग, पञ्चेन्द्रिय के साधन, विषयभोगों का उपभोग सुहावना लगता है, किन्तु जिस काल में उन भोगों को भोगा जा रहा है उसही काल में यह आत्मा अपनी ओर से रीता बनकर बाहरी पदार्थों की ओर लग रहा है, पहिली विडम्बना तो यह है। रात दिवस परपदार्थों की ओर चित्त बना रहता है, यह जीव पर बहुत बड़ी विपदा है। जो आत्मा के आनन्द का घात कर दे उसे क्या विपदा न कहेंगे? हम आपकी जो यह परिणति है, धन वैभव परिज्ञन बाह्य परिकर इनकी ओर जो चित्त लगा रहता है। अपने आपके सम्बन्ध में भी चिन्तन या विश्राम करने की बात भी नहीं सोचते हैं और दौड़े जा रहे हैं विषय के साधनों के संचय में यह क्या जीव पर कम विपदा है? लेकिन यह मोही जीव इस ओर दृष्टि नहीं देता।

मोहपिशाचबाधा—मेरा घर बढ़े, धन बढ़े, परिज्ञन अच्छे रहे, आदिक यों नाना विकल्प मोही जन करते हैं, पर उन विकल्पों से इस जीव के आनन्द का, ज्ञान का घात हो रहा है, अनेक कर्मबन्धन हो रहे हैं।

मुश्किल से आज उत्कृष्ट भव पाया है, अब इसके फिर मिलने की संभावना तक भी नहीं है ऐसी तो स्थिति है और यह जीव चैन मान रहा है। यही इस जीव का मोह और अज्ञान कहलाता है। इन विषयों में लिप्सा करके अत्यन्त दुःखी भी ये पुरुष इन विषय के साधनों को पाकर ही लोक में अपना बड़प्पन जाहिर करते जा रहे हैं। धन बहुत बढ़ गया तो उससे अपनी बड़ी महिमा लोगों को दिखाना चाहते हैं कि मेरे बहुत द्रव्य है, मेरा अधिक पुण्य है, मैं सबसे बड़ा हूँ। अरे आत्मन् ! तू तो उतना ही है जितना कि अन्य सब जीवों में हैं। उससे बढ़कर तू कुछ नहीं है। सब जीव भी अपनी-अपनी स्थिति अपने-अपने विकल्प करते हैं और तू भी अपनी वर्तमान भावना के अनुसार अपने विकल्प कर रहा है, इससे बढ़कर तू और क्या करता है? कहे में बड़ा है, कौनसी महंतता तुममें आ गई है, क्यों फूला-फूला फिर रहा है? ये विषयसाधन तेरे पतन के कारण है, महंतता के कारण नहीं है।

आन्तरिक महत्त्व व लक्ष्य—भैया ! तेरा जो वास्तविक स्वरूप का महत्त्व है, ज्ञानानन्दरस निर्भर चमत्कार, उसे मिलन कर दिया है तेरी इन करतूतों ने। जिन करतूतों से लाभ भी कुछ नहीं मिल रहा है। केवल एक अपना समय गुजारना और अपने मन को कलुषित करना यह ही हो रहा है। कुछ तो चेत, कुछ तो अपने आपकी ओर आ। मुड़कर देखना है अपने आपको चमत्कार। उसको ही समझने के लिए तो हम आप सुबह शाम मंदिर में आते हैं, प्रभु की बाणी को सुनते हैं, पूजन वंदन से उनकी महिमा गाते हैं, लेकिन तुझे उस स्वरूप से प्यार नहीं होता। यदि धन वैभव से ही प्रीति हो तो कहे की भक्ति है, सब केवल दिखावा है। किसको रिझाने के लिए तू ऐसा दिखावा करता है? क्या अन्य दर्शक पुरुषों की रिझाने के लिए तू पूजन का दिखावा करता है? या प्रभु के गुणों का स्मरण करने के लिए तू पूजन का आरम्भ करता है। क्या कर रहा है? सोच। यह संकल्प बना ले कि मुझे किसी अन्य पुरुष को कुछ दिखाने से लाभ नहीं है। मैं अपने बारे में किसी मनुष्य को कुछ अपना बड़प्पन दिखा दूँ महत्त्व जता दूँ इससे क्या लाभ है? कौनसी शान्ति मिलेगी? अशान्ति के काम तो वर्तमान में ही कर रहे हैं।

आशा पाप—कोई मोही मायावी दुःखी ये संसारी जीव यदि यह विकल्प करने लगें मेरे बारे में कि यह बहुत बड़ा है, तो यह उनका ही तो विकल्प है, उनसे तुझे क्या मिल जायेगा? तेरी शान्ति तो तेरी करतूत पर निर्भर है, दूसरे की कल्पना, दूसरे के चिन्तन पर निर्भर नहीं है। आ अपनी ओर आ, अपने में विश्राम ले, बाह्य में कुछ मत ढूँढ। बाहर में कुछ मत निरख। अन्तर से परिजनों की, मित्रजनों की, वैभव की ममता को छोड़ दें, मोह में कुछ न मिलेगा। गृहस्थी का कर्तव्य समझकर उनका पालन पोषण करें, पर ये ही मेरे सब कुछ है, ऐसी मान्यता रखेगा, ऐसा विष पीवेगा तो दुःखी तुझे ही होना पड़ेगा।

आशय की सावधानी में आत्मरक्षा—भैया ! भावना में ही तो सावधानी है। और सावधानी कहां से लाना है? जिसका आशय विशुद्ध है तो वह पुरुष सावधान है, जिसका आशय मलिन है तो वह पुरुष दुःखी है, दरिद्र है। इन विषतुल्य विषयों की तृष्णा में पड़कर इनसे तू अपने को महान् मत समझ। मेरा घर बड़ा है, दो तीन मंजिल का है, बड़ा सुन्दर है, अरे इससे तू अपने को महान् मत जान। मकान मकान में है। वह

पुदगल का रूप है, उससे तेरा सम्बन्ध नहीं है। बड़ा मकान बन जाने से कहीं तेरा आत्मा बड़ा न बन जायेगा। तेरा आत्मा तो तेरे गुणों के विकास से ही बड़ा बनेगा। तू अन्य दृष्टि को छोड़ दे। देख तू अपने आप पर दया न करेगा तो तेरे दर्द को कोई बांटने न आयेगा। कोई तेरे दुःख को मिटा सकता है क्या? जो श्रम करेगा, जो रागद्वेष मोह का विकल्प करेगा, दुःखी उसको ही होना पड़ेगा। कोई दूसरा साथ देने न आयगा। जितनी अपने आत्मा की रक्षा कर सके कर ले।

मोह में विपरीत दृष्टि—ये इन्द्रियां मन की सेवक हैं। मन की आज्ञाकारी बनकर ये इन्द्रियां प्रवृत्त हो रही हैं। जो मन में रुचता है उसके ही अनुसार ये इन्द्रियां अपने विषयों के व्यापार में लग जाती हैं, पर यह मन भी इस जीव का शरण साथी नहीं है। वह तो एक कल्पनामात्र है। विषयों का सुख कल्पनामात्र रम्य है, जैसे पित्तज्वर चढ़े हुए पुरुष को वस्तु का स्वाद उल्टा ही भासमान होता है ऐसे ही जब मोहज्वर चढ़ा है तो वस्तु उसे उल्टी-उल्टी ही दिखती है। मेरा सुख भोजन से मिलेगा, मेरा सुख वैभव स्त्री पुत्र से मिलेगा—इस प्रकार बाह्य पदार्थों से सुख की आशा करना यह वस्तुस्वरूप के विपरीत स्वप्न ही तो है। और मेरा सुख मेरे आनन्द गुण के परिणमन से निकलेगा, अन्य किसी पदार्थ से मेरे में शान्ति प्रकट नहीं हो सकती है।

मुग्धप्रसंग में अलाभ—ये प्रभु जिनकी हम रोज पूजा करते हैं, ये अनन्त आनन्द में मग्न है, क्योंकि इनका आनन्द स्वाधीन है। किसी भी वस्तु के प्रति मोह रागद्वेष इनके नहीं है। पूर्ण शुद्ध निष्कलंक ज्ञानपुञ्ज हो गये हैं। वही स्वरूप हम आप में सामर्थ्य है, क्योंकि स्वरूप वही का वही है जो प्रभु का है। प्रभु के निकट न जायें और इन मोही जीवों में ही घुसे रहें तो क्या, यह कोई विवेक की बात है? उन मोही अज्ञानी जीवों में ही तेरी रुचि जगती है तो यही तुझ पर बड़ी विडम्बना है, यही वास्तविक विपदा है। सुबुद्धि पैदा कर। तू सुबुद्धिस्वरूप ही है, परन्तु विषयों की अभिलाषा जग गयी सो सारी बुद्धि उल्टी हो गयी। ये विषय भिन्न चौज है, तू इनकी अभिलाषा क्यों करता है? तू स्वतंत्र है, अपने ज्ञानदर्शन स्वरूपमात्र है। उस स्वरूप को निरख तो अनन्त आनन्द मिलेगा।

बाधा को साता मानने का मोह—बाह्य पदार्थों में दृष्टि रखने से आनन्द में कमी हुई है, पर ये मोही जीव आनन्द की कमी होने वाली परिस्थिति को ही सुख समझकर और जिन बाह्यपदार्थों के आश्रय से उनके आनन्द में कमी हुई है उनका उपयोग बनाकर कल्पना में सुखी होते हैं, उन्हीं के गुण गाते रहते हैं, अपने गुणों की सुध नहीं रखते। मायामयी स्कंधों के ही गुण गाते हैं। कैसा सुन्दर मकान है मेरा, कितनी अच्छी डिजाइन का बनवाया है। और ये बाहरी चीजें हैं, इनको तू अपना बतलाना चाह रहा है। और तू अपने आपको श्रेष्ठ उत्तम बना। जैसे तेरा आशय निराला बने वैसा आशय कर। धर्म के प्रसाद से आत्मा का उद्धार भी होता है और संसार के सुख भी सामने आते हैं, इनमें दुर्तर्फा लाभ है, हानि की तो कोई बात ही नहीं है। उस धर्म से इतने बाहर क्यों भागे जा रहे हैं? धर्म का आश्रय कर।

मोहज्वर में विपरीत स्वाद—कभी अनुभव किया होगा, जब भीतर में कुछ ज्वर बसा रहता है तो गन्ना भी चूसो तो कड़वा लगता है, क्योंकि वह ज्वरविष सारे शरीर में व्याप गया है। यों ही यह राग ज्वर जब सारे

आत्मा में व्याप गया है तो वस्तु का स्वाद इसे विपरीत आता है, चीजें हैं स्वतंत्र, पर उन वस्तुओं को यह अपने आधीन समझता है। मैं जैसा चाहूं तैसा होगा, मेरे किए बिना यह काम नहीं बन सकता है। कितना कर्तृत्वबुद्धि का ज्वर लगा हुआ है इस आत्मा में, और इसी कारण कड़वे विष समान ये सब पदार्थ है उनका स्वाद ले रहा है। पर क्या विषयों में स्वाद है?

पर से सुख मानने का भ्रम—कुत्ता सूखी हड्डी चबाता है तो उस सूखी हड्डी में क्या स्वाद रक्खा है पर सूखी हड्डी चबाने से कुत्ते के दाढ़ फट जाते हैं और उन दाढ़ों के फटने से जो कुछ लोहू निकलता है उसका ही स्वाद वह कुत्ता लेता है, किन्तु मानता है कि इस हड्डी से मुझे बढ़िया स्वाद आ रहा है। कोई देखने वाला दूसरा कुत्ता उस हड्डी को छीनने के लिए झपटे तो यह कुत्ता वहाँ से भागकर एकान्त स्थान में जाकर उस हड्डी को चबाता है और उसमें स्वाद अपने ही लोहू का लेना है, पर मानता है कि मैं हड्डी का स्वाद ले रहा हूँ। ऐसे ही इन बाह्यपदार्थों को इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने से कहीं बाह्य पदार्थों से आनन्द नहीं निकलता है। इस जीव का स्वरूप ही आनन्द है। उस आनन्दस्वरूप से ही आनन्द प्रकट होता है उसे तो यह जीव देखता भी नहीं है और यह जानता है कि मुझे विषयों से आनन्द मिला है, सो उन विषयों के प्रति इसका आकर्षण होता है और यों ही व्यर्थ दुःखी होता रहता है।

सम्यक् और विपरीत ज्ञान का परिणाम—भैया! मोही प्राणी को यह विदित नहीं है कि वह मौज का तो बहाना है, ऊपर से कल्पना की मौज है, पर उसके भीतर पीड़ा भरी हुई है, आकुलता बसी हुई है। यदि आकुलता मे न हों तो आत्मानुभव जगे। यह भी आत्मानुभव उसी के जगता है जो निराकुलता का प्रेमी है और निराकुलता के लिए ही अपना उद्यम रखता है। निराकुलता का उद्यम कहीं हाथ पैर पीटने से नहीं मिलता, या हाथ पैर चलाने से बाधा भी नहीं आती। वह तो अपने ज्ञान की बात है। कैसी भी देह की प्रवृत्ति हो रही हो, पर ज्ञान आत्मस्वभाव के अनुकूल बनाया जा रहा है तो वह अन्तः अनाकुल रहेगा और ज्ञान विपरीत बनाया जा रहा है तो अन्तः पीड़ा बनी रहेगी। सबका सारांश यह है कि तू विषयों के साधनों से उपेक्षा कर, और ज्ञानमय तो तू है ही ना। इस ज्ञान का, इस उपयोग का प्रकाश अपने आपमें कर और अपने आपमें निरख कि यह मैं आत्मा स्वभावतः कैसा हूँ, मेरा स्वरूप क्या है?

हितकारी वोटिङ्ग—आज दुनियां में लोग ९९ प्रतिशत एक विषयों के साधन में ही होड़ लगाये हुए हैं, उनके ही बीच हम आप पड़े हुए हैं। उनके कर्तव्यों को निरखकर हम आप भी अछूते नहीं रह पाते हैं। जो धुन उन ९९ प्रतिशत लोगों की है वही धुन हम आपकी भी बन जाती है, परन्तु संसार में वोटिङ्ग से काम नहीं बन सकता। यह संसार तो अज्ञानी प्राणियों से भरा हुआ है। जैसे काम ये सभी संसारी लोग करते हैं वैसा ही काम हम भी करें, ऐसा निर्णय न बनायें, किन्तु हमारे पुराण पुरुष जो कुछ भी मिल गए हैं, उनका जो चारित्र है उसे पढ़ें। उनकी वोट ही सच्ची वोट है। इन्होंने जो शिक्षा दी, जो मार्ग बताया उस पर ही अमल करें, इससे हित होगा।

विकट रोग की सुकुमार चिकित्सा—देखो हमारे आचार्यदेव ने हम रोगियों पर दया करके कैसी सुकुमार चिकित्सा बतायी है ? कहीं घोर तपस्या करो तब तुम्हारा कल्याण होगा, ऐसा नियम यहाँ प्रभु नहीं बता रहे हैं । तुम्हारी जैसी शक्ति हो, शक्ति न छुपाकर तपस्या करो उससे लाभ यह होगा कि इन खोटे विषयकषायों में चित्त न रमेगा । तपस्या का लाभ इतना है पर मोक्षमार्ग के लिए, शान्ति पाने के लिए तो यह बताया गया है कि तू अपने ज्ञानस्वभाव का सिंचन कर, सेवन कर, इसको हराभरा कर, ज्ञानामृत का पान कर, अपने को केवल ज्ञानमात्र निरख, ऐसी ही बारबार भावना बना ओर इस तरह का ही अपने को अनुभव कर । मैं समस्त पदार्थों से न्यारा देह से भी न्यारा तर्क वितर्क रागद्वेष संकल्प विकल्प समस्त परभावों से न्यारा केवलज्ञान प्रकाशमात्र हूँ, ऐसी अपने आपमें ज्ञानमयता की भावना भा । उसके

प्रसाद से ज्ञान का अनुभव जगेगा । तेरे में जो उपयोग है, तू उस उपयोग को कहीं न कहीं लगाता फिरता है । किसी न किसी को जानता रहता है, किन्तु यह तो बता कि यह उपयोग क्या इन विषयमोगों में लगाने के लिए मिला है ।

अमूल्य रत्नों के सदुपयोग का अनुरोध—देख, आचार्यजन तपस्या करक अनुभव जगाकर तेरे लिए कैसे-कैसे रत्नों की कैसी-कैसी अमूल्य बातें लिख गए हैं सब कुछ भोजन तैयार इन ग्रन्थों में पड़ा है जो आत्मा से करना है । अब हम ऐसे प्रमादी हों कि तैयार किए हुए भोजन को भी न खाना चाहे तो इससे बढ़कर और दुःख की क्या बात कहीं जा सकती है? गप्पों के लिए ऊटपटांग बातों के लिए तो समय बहुत लगा दिया जाता है, मन भी उनमें बहुत रमा करता है । अभी कोई किसी साधु आदि के प्रति निन्दा की बात छिड़ जाये या कोई गप्पे छिड़ जायें तो कैसा बढ़िया समय व्यतीत हो जाता है, कितना मन उसमें लगता है ? देखें अब आगे क्या कहते हैं यह सुनने की बड़ी उत्सुकता जगती है । ऐसे निन्दा और गप्प के शब्द सुनने को मिलें तो इसमें लोग बड़ी मौज मानते हैं । लेकिन ये सब अहित की बातें हैं । लोगों के लिए जो हित की बात है, जो सदा के लिए संकटों से छुटा देने में समर्थ है ऐसे इस अपने आत्मा की बात सुनने की उत्सुकता लोगों में क्यों नहीं जगती है ? व्यर्थ की बातों के लिए तो समय है और उत्साह है पर अपने आपकी भली बात के लिए न समय है और न उत्साह है । यह मोह की ही एक बड़ी विडम्बना है ।

अन्तःविशुद्ध ज्ञानभावना बिना धर्मवेशवृत्ति की व्यर्थता—देखो अपना महत्त्व ज्ञानस्वरूप की उपासना से जानो । यदि तेरा उपयोग एक अलौकिक शुद्ध ज्ञानस्वरूप में जगता है, उसकी ही भक्ति करता है तो अपने को समझ कि हम महंतों के पथ पर चल रहे हैं । विरक्ति और ज्ञान की बात यदि अन्तःकरण में न समा रही हो और ऊपरी विषयों के ढोंग की बात ही की जा रही हो तो उससे कहीं अन्तरङ्ग में शान्ति तो न मिल जायेगी? किसी सोने के घड़े में मैला भर दिया जाये और ऊपर से उसे खूब चमकीले कागजों से सजा दिया जाये तो क्या वह घड़े के अन्दर पड़ा हुआ मैला अपनी दुर्गन्ध को छोड़ देगा? न छोड़ेगा । ऐसे ही विषयकषायों से मलिन अंतःकरण हो और दिखावट बनावट, सजावट ऐसी बनाये कि लोग समझें कि बड़ा

सुन्दर भेष है, सुन्दर मुद्रा है, सुन्दर वाणी है, सुन्दर क्रियाएँ हैं, सब कुछ अच्छा नजर आये, किन्तु अंतःकरण में आशय मिथ्यात्व का ही पड़ा हो, देखो मुझे लोग महान् समझते हैं, यों अपनी महत्ता की जाये तो इस वृत्ति से आकुलता तो न मिट जायेगी। आकुलता तो वैसी ही बनी हुई है। कुछ शान्ति के पथ में आ और अपना मार्ग विशुद्ध बना। विषयों के साधनों में ही मत बह इससे ही अपने जीवन की सफलता प्राप्त होगी इस उत्कृष्ट मनुष्य जन्म को विषयों में मत खो दो।

श्लोक (३९)

अनिवृत्तेर्जगत्सर्वं मुखादवशिनष्टि यत् ।
तत्स्याशत्कितो भोक्तुं वित्तोर्भानुसोमवत् ॥ ३९ ॥

आसक्ति से मोही का भोगत्याग—समस्त परपदार्थों से न्यारा अपने ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र इस आत्मा को कैसा भ्रम लग गया है कि यह अपने आप में आनन्द अनुभव न करके बाह्यपदार्थों में आनन्द मान रहा है और इस तृष्णा से बाहरी पदार्थों से यह इतना जुड़ गया है कि चाहता तो यह है कि मैं समस्त वैभव आदिक को मुख में रखकर लील जाऊँ, किन्तु लील नहीं पाता। इसमें ऐसी शक्ति ही नहीं है कि समस्त विषयों को निगल ले।

मोह में तृष्णापरिहार की अशक्यता—देश में ऐसी बातें करने वाले बहुत मिलेंगे कि परिग्रह अधिक न जोड़े, जितने में अपनी उदरपूर्ति हो उतना जोड़ों और बाकी सब दुनिया के लिए छोड़ दो। सभी जीव इन पदार्थों का भोग करें, तुम ही अकेले संचय मत करो, ऐसा कहने वाले बहुत हैं, और ऐसा कह-कहकर वे धन का संचय भी बहुत कर लेते हैं। धनसंचय का एक उपाय मान रखा है, नेतागिरी मान रखी है। ऐसा उपदेश किया जाता है जो देश के हित की बातों से भरा हो, पर ऐसा हृदय होना बड़ा कठिन है कि स्वयं भी उस धन वैभव के हड्डपने की अन्तरङ्ग में चाह न रखें।

स्पर्शन और रसना के भोग की आसक्ति—स्पर्शन इन्द्रिय का विषय है सुहावने पदार्थों का स्पर्श करना, अथवा कामवासना विषयक विषय सेवना सब जीव, प्रायः संसार के अज्ञानीजन इन विषयों में पड़े हैं, पर इन विषय को भोग नहीं पाते हैं, कमजोरी है, अशक्ति है। भोगों के लालसी पुरुष रसोई में कितने ही सरस मीठे भोजन बनाते हैं, पर क्या सब कुछ खा पाते हैं? कुछ ही खा पाते हैं, बाकी सब छोड़ना पड़ता है। इतना सरस भोजन जो छोड़ा गया वह अन्य जीवों पर दया करके नहीं छोड़ा गया, किन्तु सबको भोगने की शक्ति नहीं है इसलिए छूट गया। चित्त तो यह चाहता है कि रख खाते जाएँ, पर इतना जो भोजन छूटा है वह अशक्ति से छूटा है, निवृत्ति से नहीं छूटा है। वैराग्य बसा हो, अन्य जनों पर करुणा हो, इन बातों से नहीं छोड़ा गया, किन्तु अशक्ति से छोड़ा गया।

घ्राण, चक्षु व कर्ण के भोग की अशक्ति—घ्राणइन्द्रिय से इतर फुलेल सूंघना यह घ्राण का विषय है। कोई रात दिन २४ घंटे नाक पर फूल कहां रखे रहता है, कदाचित् रात दिन भी नाक पर लगाये रहे तो नाक

खराब हो जाती है। गंध फिर ठीक न आयगी, नासिका में रोग बढ़ जायेगा। खैर, रात दिन कोई गंध का भोग नहीं कर सकता। जो छूट गया वह निवृत्ति से नहीं छूटा, किन्तु अशक्ति से छूटा है। चक्षुइन्द्रिय से रूप का देखना यह है नेत्र का विषय। किसी भी चित्र को, किसी भी रूपवान् पदार्थ को टकटकी लगाये देखते रहो तो कब तक देखते रहोगे, आखिर नेत्र बंद ही करने पड़ेंगे। जो नेत्रइन्द्रिय के विषय का परित्याग किया वह निवृत्ति के कारण नहीं किया, किन्तु अपने में अशक्ति है इस कारण से परित्याग करना पड़ा। किसी को संगीत प्रिय है तो २४ घंटे या ४८ घंटे लगातार संगीत सुन ले, ऐसा कोई सुनने वाला देखा है क्या ज्यादा से ज्यादा चार-पाँच घंटे संगीत का प्रोग्राम चला, बाद में स्वयं ही कहने लगे कि भाई बंद करो। बहुत समय हो गया, जो कर्णइन्द्रिय का विषय राग संगीत त्यागना पड़ा वह वैराग्य के कारण नहीं त्यागा, किन्तु स्वयं में उस विषयों को भोगने की शक्ति न थी, इसलिए त्यागा है।

मोहियों के अशक्तिवश भोगपरिहार का दृष्टान्तपूर्वक समर्थन—जैसे एक लोकप्रसिद्ध दृष्टान्त है कि चन्द्रमा को राहु ग्रसता है और सूर्य को केतु ग्रसता है। ग्रसने वाला यथार्थ में कोई नहीं है, सूर्य एक विमान है, चन्द्र विमान है राहु विमान है, केतु विमान है। सूर्य और चन्द्र विमान तो चमकीले हैं, और राहु केतु विमान कृष्ण रंग के हैं। चलते-चलते जब कभी ऐसा अवकाश होता है कि चन्द्र के नीचे राहु विमान आ जाये तो चन्द्र ढक जाता है। वहाँ भगवान् को, चन्द्रमा को कोई संकट नहीं पड़ा, किन्तु प्रसिद्धि ऐसी है कि चन्द्रमा को राहु ने निगल लिया। इसी प्रकार सूर्य को केतु ने निगल लिया ऐसा लोग कहते हैं। बस ही दृष्टान्त के अनुसार यहाँ यह जाने कि वह चन्द्र को भी पूरा क्यों नहीं निगल पाता? अशक्ति की वजह से, केतु सूर्य को पूरा क्यों नहीं निगल पाता? अशक्ति की वजह से यह एक लोकप्रसिद्ध दृष्टान्त दिया गया है। यों ही जानो कि संसार के प्राणी इस समस्त विश्व की विभूति पर एकक्षत्र राज्य करना चाहते हैं। पर क्यों नहीं कर पाते हैं, क्यों नहीं समस्त विषयों को भोग पाते हैं अशक्ति के कारण।

मोहवश अनादिभ्रमण—यह सारा जगत् मोह की कीली पर धूम रहा है। जैसे कुम्हार का चाक एक पतली कीली पर धूमता है ऐसे ही यह जीवलोक रागद्वेष की कीली पर सारे लोक में चक्र लगा रहा है। कितने दिनों से यह चक्र चल रहा है? अनादि काल से। हम आपके संसार में परिभ्रमण करने का कोई दिन नहीं कहा जा सकता है। कोईसा भी समय यदि आदि का मान लिया जाये कि हम इस दिन से मोही बनकर संसार के चक्र लगा रहे हैं, तो इसका अर्थ यह है कि उस दिन से पहिले नहीं लगा रहे थे, अर्थात् शुद्ध थे। यदि शुद्ध थे तो फिर आप अशुद्ध कैसे हो गये? कारण बिना कार्य नहीं होता है। हम अनादि से ही अशुद्ध चले आ रहे हैं। अनादि से ही भ्रमण करते आ रहे हैं इतना अपने सहज स्वरूप का भान न होने से एक क्रान्ति उत्पन्न हो गई है, भ्रम हो गया है। मुझे स्त्री, पुत्र आदिक परिजनों से सुख मिलता है, मुझे भोजन आदिक विषयों से सुख मिलता है, इस प्रकार इसको एक भ्रमबुद्धि हो गयी है, सो यह एक छत्र तक सारे विश्व पर राज्य करने की चाह कर रहा है। मैं सबको भोग लूँ, ऐसा महान् मोह का पिशाच लगा है।

मोहान्धकार में भोग की नवीनता का भ्रम—यह प्राणी मोह के वशीभूत होकर कोल्हू के बैल की तरह

अंधा बनकर चक्कर लगा रहा है। जैसे कोल्हू के बैल की आंखों में पट्टी बांध दी जाती है, ताकि यह बैल कहीं यह न समझ ले कि मैं चल ही रहा हूँ सीधा। यदि वह बैल यह अनुभव कर पाये कि मैं उसही जगह गोल-गोल फिर रहा हूँ तो वह गिर पड़ेगा। और यदि आंखों में पट्टी लग जाती है तो वह यह नहीं जान पाता कि मैं गोल-गोल चक्कर लगा रहा हूँ। वह तो जानता है कि मैं सीधा ही चला जा रहा हूँ। ऐसे ही संसारी मोही प्राणी के ज्ञाननेत्र पर रागद्वेष की पट्टी बंधी हुई है ताकि यह न जान पाये कि जो भोग पहिले भोगा वही तो भोगे जा रहे हैं। यदि यह समझते तो यह भोग न भोग सकेगा। इसे तो यह परिचय में आना चाहिए कि मैं आज नया भोग भोग रहा हूँ। सो अनुभव भी कर लो—आप रोज भोजन करते हैं, वैसी ही रोटी दोल चावल कल खायी थी, वैसी ही आज खा रहे हैं वही अरहर की दाल, चावल खाते समय क्या आप कभी यह सोचते हैं कि अरे ऐसा ही तो कल खाया था? वह तो नया लग रहा है। मैं नया भोग भोग रहा हूँ, नई चीज खा रहा हूँ, ऐसा मालूम होता है क्योंकि इसके ज्ञाननेत्र पर रागद्वेष की पट्टी बंधी हुई हैं? यों यह महान् मोहगृह से यह ऐसा दबा हुआ है। इसको अन्तर में बहुत व्यथा बनी हुई है।

आत्मप्रकाश में विश्राम का अवकाश—जिसे भोगने की इच्छा लगी हो और किसी परवस्तु में कुछ करने की वांछा लग रही हो, वह पुरुष सुख से नहीं रह सकता। सुख शांति तभी आ सकती है जिस क्षण ऐसा उपयोग बने कि जगत् में मेरे न करने को कुछ है और न मेरे भोगने को कुछ है—ऐसा शुद्ध ज्ञानप्रकाश हो सके तो शांति मिल सकेगी, बात ऐसी ही है। इस देह देवालय के अन्दर यह आत्मदेव आकाश की तरह अमूर्त केवल ज्ञानानन्दस्वरूपी है, यह जानता है और आनन्द भोगता है, सुख भोगे अथवा दुःख भोगे, खुद का परिणमन भोगता है। ज्ञान करने और आनन्द का परिणमन भोगने के अलावा और करता क्या है?

वस्तुतः किसी का पर में अकर्तृत्व—भैया ! भले ही देखने में ऐसा लगे कि इसने ईंट रक्खी, गारा लगाया, भींत बनायी, पर उसने कुछ भी नहीं किया। यह सब निमित्तनैमित्तिक विधि से स्वयं में अपने आप हो रहा है। आत्मा तो केवल भीतर में ज्ञान और इच्छा कर रहा है। उस माफिक फिर शरीर में वायु चलती हैं, उस माफिक हाथ चलते हैं उस संयोग में ईंट रक्खी जाती है, ये सारे काम हो रहे हैं, पर जो जितना है, आत्मा जिसे कहते हैं, उस स्वरूप की ओर देखो तो वह आत्मा केवल अपने भाव भर कर रहा है। हम आप सब अपने आपके बारे में सोचें कि मैं न किसी का कुछ कर्ता हूँ और न किसी का भोक्ता हूँ। किसी भी क्षण ऐसी दृढ़ता आये तो बाहर में उपयोग न फंस सकेगा। अपने अन्तर में विश्राम आयेगा तो उस विश्राम में भव-भव के बन्धे हुये कर्म स्वयं जल जावेंगे। बाहर दृष्टि करने से शान्ति न मिल सकेगी।

आत्मभावना का अनुरोध—हम आप सबका यह कर्तव्य है कि जहां अनेक घण्टे बाह्यकार्यों में लगाते हैं, रोजगार में, सेवाभाव में, कर्तृत्व और भोक्तृत्व भाव में लगाते हैं, किसी भी क्षण दस पांच मिनट तो ऐसा उपयोग लगाओ कि अरे ! मैं तो सारे जगत् से न्यारा हूँ, केवल अपने ज्ञानप्रकाशमात्र हूँ। मेरा इस दुनिया से रंच भी सम्बन्ध नहीं है। दुनिया से यह आत्मा जब भी न्यारा है, मरने पर तो प्रकट यहां से चला जायेगा। कुछ भी सम्बन्ध नहीं है—ऐसा अकिञ्चन्यरूप अपने आपका कुछ तो अनुभव कीजिये। इस उपयोग में शांति

का उदय होगा । १०-१५ मिनट में कुछ बिगड़ता है क्या ? घर दूकान आदि सब चीजों का यदि विकल्प न रख जाये, एक अपने आपको न्यारा तका जाये तो कौनसी भींत गिर जायेगी, कौनसा नुक्सान हो जायेगा ? कुछ हिम्मत बनाओ और रात दिन में किसी भी समय ऐसा अनुभव करो, फिर सारा बोझा उतर जायेगा । कुछ क्षण के लिये एक बल प्रकट होगा । फिर अपने आप ही ये सारे सुख फलेंगे और आगे भी भली भाँति आयेंगे ।

कषाय के एकत्व में विडम्बना—यह जीव केवल अपने लिये ही विषयों के भोगने की बात नहीं कर रहा है, किन्तु दूसरों को भी विषयों के भोगने के लिये उपदेश देकर विषयों का आचार्य बन रहा है । देखो अमुक चीज इस तरह बनेगी, अमुक चीज इस प्रकार बनेगी तो इसमें अधिक आनन्द आता है । यों दूसरों का भी यह उपदेष्टा बन रहा है । इसने कभी अपने इस सहजस्वरूप के अनुभव का आनन्द न कभी सुना, न परिचय में आया, न कभी अनुभव किया, इसलिये अन्तरंग में प्रकाशमान् भी यह ब्रह्मस्वरूप इसकी समझ में नहीं आता । कषायों के साथ इस स्वरूप को ऐसा लपेटकर खा लिया कि कितने ही कषाय अनुभव में आ रहे हैं और यह, शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप अनुभव में नहीं आता ।

संगप्रसंग से आत्मा का अलाभ—भला बतलाओ बड़े-बड़े मकान बना-बनाकर अन्त में इनसे क्या लाभ लूट लिया जायेगा? ये पुण्योदय के अनुसार आते हैं तो आने दो । उनकी भली व्यवस्था बना लो, लोकोपकार के लिये उसका अधिकांश भाग निकाल लो । पुण्योदय से जो कुछ आता हो तो आने दो, पर उस धन वैभव की भक्ति करना, लक्ष्मी का नाम लेकर उसकी उपासना करना, पूजा करना, मनौती करना—ये सब तो अशांति के ही काम हैं । इनसे क्या लाभ मिलेगा ? कुछ ऐसा भी सोच सकते हैं कि हम धन सम्पत्ति जोड़कर रख जायेंगे तो हमारे साथ तो न चलेगा, किन्तु हमारे बाल-बच्चे, परिवार के लोग तो सुखी रहेंगे । ओह ! सोचो तो सही कि गुजर जानें के बाद फिर आपका कुछ रहा क्या ? न आपको उनका ख्याल रहा और न उन सब जिन्दा रहने वालों को आपका ख्याल रहा । जैसे अन्य जीव सब अपरिचित हैं, ऐसे ही वे सब अपरिचित रहेंगे । किनके लिये इतना व्याकुल बनकर अपने न्याय मार्ग को तजकर जिसमें कि हम ज्ञान के अनुभव के पात्र भी न रह सकें । क्यों श्रम किया जा रहा है?

वैभव की सकल अभिलाषाओं के निकट पहुंचने की अशक्यता—खेद के साथ यह कहा जा रहा है कि यह सारा जगत् जो मुख से बचकर रह गया है, जो नहीं निगला जा सका है इस जीव से, वह वैराग्य के कारण नहीं, किन्तु अशक्ति के कारण सबको निगलने की सामर्थ्य ही नहीं है । भला जैसे आप अपने कर्मों को लिये हुए हैं ये अनन्त जीव भी तो अपना-अपना भाग्य लिए हुए हैं । यह वैभव थोड़ा है और चाहने वाले करोड़ों अरबों हैं । यह वैभव किस किसके पास भटकेगा ? छूटना तो सब है चाहे जैसे छूटे, ऐसा छूटने में लाभ भी कुछ न मिलेगा । उसे ज्ञान और वैराग्य बल का अन्तर में भाव बना कर छोड़ा जाये तो उस त्याग से लाभ मिलेगा । छोड़ना क्या है? छूटा हुआ ही है सब । घर में बसते हुए भी वे सब छूटे हुए ही है । धन मकान परिजन इनको आत्मा में कौन रख लेगा, इनको अपने स्वरूप रूप कौन बना लेगा? वे तो छूटे हुए ही

है। अपना मानो तो छूटे हैं न मानो तो छूटे हैं, ऐसे स्वभाव से छूटे हुए इन भोगों को यदि मान लिया जाये कि ये मेरे से सब भिन्न हैं, मैं इस देह तक से भी न्यारा हूँ तो इतनी भावना में कितना बल आया? शान्ति मिलेगी, कर्म कटेंगे, अगला भव सुधरेगा।

परिणमनविधि में भाव की प्रधानता—देखो भैया! केवल भावों भर की बात है। चीजें सब जहां की तहां हैं, कहीं परवस्तु को अपना सोच लेने से अपना हो नहीं जाती। स्वरूप सबका जुदा-जुदा है, हां जैसा है तैसा समझ लेवे तो उससे शान्ति मिलेगी। हम अपना ही ज्ञान और आनन्द भोगते हैं, पर भ्रम कर लिया जाये कि दूसरे का आनन्द भोगता हूँ तो उसे जीवनभर पिसना ही पड़ेगा। क्योंकि दूसरे-दूसरे ही है, वे हमारे आधीन हो नहीं सकते। हम कुछ चाहते हैं दूसरे अपने ही रूप परिणम रहे हैं। हमारा किसी पर स्वामित्व नहीं है। हम किसी के स्वामी बनें तो उसमें आकुलता ही भोगनी पड़ती है। जब भावों से ही सब कुछ है तो अपने भाव निर्मल क्यों न बना लिये जायें।

दृष्टान्तपूर्वक भ्रम वर्तना का प्रकाश—एक छोटासा कथानक है कि चार भाई थे। वे बहुत गरीब हो गये तो उन्होंने सोचा कि बुवा के घर चलें तो १०-२० दिन खूब अच्छा भोजन मिलेगा। वे बुवा के घर पहुंच गए। ने बुवा थी बड़ी कंजूस। शकल देखते ही बुवा के हृदय में चूहे लोटने लगे। बुवा जी ने उन्हें बिठाया और पूछा कि तुम लोगों को खाने को क्या बनाएँ? तो वे बोले—पूँड़ी हलुवा वगैरह जो बनाना हो बनावो, जो बनावोगी वह हम खा लेंगे। तो बुवा ने कहा, अच्छा तुम लोग जावो तालाब में स्नान कर आवो और मंदिर पूजा कर आवो, फिर आकर भोजन करो। वे चारों कपड़े उतार कर वहीं खाट पर सब कुछ रखकर तालाब में स्नान करने चले गए। एक घंटा स्नान करने में लगा। एक डेढ़ घंटा मंदिर में पूजा करने में लगा। इधर बुवा ने क्या किया कि चारों के कपड़े आदि जो कुछ रक्खे थे उन सबको उठाकर एक बनिया के यहां गिरवी रख दिया और आटा, धी, शक्कर आदि सामग्री लाकर हलुवा पूँड़ी बनाया। जब वे चारों वापिस आए तो सीधे खाना खाने बैठ गए। वे खाते जायें और आपस में बात करते जायें कि आज तो बुवा ने बहुत बढ़िया भोजन खिलाया है। बुवा बोली—खाते जावो, बेटा तुम्हारा ही तो माल है। वे समझा न सके। वे तो जान रहे थे कि खिलाने वाला ऐसा ही कहता है। अब खा पीकर कपड़े पहिनने गये तो वहाँ देखा कि कपड़े ही नहीं हैं। पूछा—बुवाजी हमारे कपड़े कहां हैं? तो बुवा बोली कि मैं कहती न थी कि खूब खावो तुम्हारा ही तो माल है। इसका मतलब? क्या इसका मतलब यह कि तुम्हारे सामान को एक बनिया के यहाँ गिरवी रख दिया, और वहां से आटा, धी, शक्कर आदि सामान लेकर बनाकर तुम्हें खिलाया। तो जैसे वे चारों भाई अपना ही तो खा रहे थे, पर भ्रम यह हो गया कि यह बुवा का खा रहे हैं, ऐसे ही हम आप जितना भी आनन्द पाते हैं वह अपने आप से ही पाते हैं, पर की जगह से नहीं। पर भ्रम ऐसा हो गया कि मैं अमुक पदार्थ से आनन्द पाता हूँ और इस भ्रम के कारण इसे बहुत आधीन होना पड़ता है। शुद्धज्ञान जागे तो शान्ति मिले।

श्लोक (४०)

साम्राज्यं कथमप्यवाप्य सुचिरात् संसारसारं पुनः
 तत्यक्त्वैव यदि क्षितीश्वरखराः प्राप्ताः श्रियं शाश्वतीम् ।
 त्वं प्रागेव परिग्रहान् परिहर त्याज्यान् गृहीत्वापि ते ।
 मा भूर्भौतिकमोदकव्यतिकरं संपाद्य हास्यास्पदम् ॥ ४० ॥

अपने पुराण पुरुषों को देखो, उनके जीवन में क्या-क्या गुजरा? उनके जन्म के समय जनता ने, परिवारजनों ने कितना हर्ष मनाया था और उनके बचपन में उनके गुरुजनों ने कैसा उनका लाड़ प्यार से दिल बहलाया था जबान होने पर कैसी-कैसी वीरता से उन्होंने देश पर साम्राज्य बढ़ाया था कितने भोग भोगे, राज्य शासन किया, स्त्री पुत्रादिक परिवार से सुख माना, इतना सब कुछ होने पर भी जैसे ही उनकी आयु व्यतीत हुई कि एकदम पन्ना पलट गया । अब कहां रहे वे महल, कहां रहा वह राज्य । वे तो विवेकी थे, सो उन्होंने स्थिति क्या बनाई कि सर्वपरिग्रहों का परित्याग करके केवल शरीर ही जिनका परिग्रह रहा, जंगल में एकाकी रहकर आत्मध्यान में रत हुए ।

एक कवि ने साधु का एक चित्रण खींचा है । कोई राजा साधु के आगे से निकल गया, परन्तु उसने साधु को नमस्कार नहीं किया और छाती ताने अभिमान भरी मुद्रा से साधु को तुच्छ देखते हुए चला गया । तो साधु कहता है कि हे राजन् ! यदि तुम रेशम के वस्तु से सुसज्जित होकर अपना मन खुश किया करते हो तो यहाँ हम पेड़ों की छाल के वस्त्रों से वेष्टित होकर अपना मन तुमसे भी अधिक प्रसन्न रखा करते हैं । तुम यदि इस लोक के अर्थ के धन वैभव राज्य के स्वामी हो तो हम श्लोकों के अर्थ के स्वामी हैं, यदि तुमसे तुम्हारे राज्य के लोग अर्थ की याने धन की भिक्षा मांगते हैं तो बड़े-बड़े देश विदेश के जिज्ञासु हमारे पास श्लोकों के अर्थ की भिक्षा मांगने के लिए आते हैं । तुम क्यों अभिमान करते हो अरे, दरिद्र वह कहलाता है जिसके विशाल तृष्णा लगी हुई हो और जिसका मन तुष्ट हो जाये तो वह धनिक है । यह एक कवि की उपमा है ।

हम उन पुराण पुरुषों की बात कह रहे हैं जो बड़े साम्राज्य का परित्याग करके, जो संसार में बड़ी सारभूत वस्तु मानी जाती हैं ऐसे भरतक्षेत्र के षट्खण्ड शासन का परित्याग करके एकान्त निर्जन वन में बड़ी प्रसन्न मुद्रा में विराज रहे हैं । वहाँ किस बात की प्रसन्नता है ? इतनी प्रसन्नता तो उन्होंने घर में रहकर जीवन भर भी नहीं प्राप्त की ।

मनुष्य हो अथवा महिला हो, आप यह निर्णय दे सकेंगे क्या कि सुन्दर कौन कहलाता है ? कोई पुरुष अथवा महिला भले ही रूप में गौरवर्ण हो, लेकिन पद-पद में कषाय करता हो, घमंड बगराता रहता हो, छल कपट व्यामोह में निरन्तर चले, तृष्णा का कोई अन्त नहीं, जरा-जरा सी बातों में क्रोध उबल उठे तो वहाँ कुछ सुन्दरता जंचेगी क्या? और चाहे कोई रूप में किसी भी प्रकार का हो, किन्तु वैराग्य हो, दयाशील हो,

मंदकषाय हो, लोक के काम आये, लोगों के अपराध क्षमा करने की प्रकृति रखता हो, ऐसी मुद्रा से रहने वाला कोई पुरुष अथवा महिला की मूर्ति देखो, वहाँ कितनी आभा प्रकट होती है। सुन्दरता शान्ति से प्रकट होती है रंगरूप से नहीं। यह ज्ञान, वैराग्य व शान्ति का प्रताप है। जो साधु महाराज बड़े-बड़े साम्राज्य का परित्याग करके जंगल में निवास कर रहे हैं, वे बड़ी शान्तमुद्रा प्रसन्न विराजे हैं।

यहाँ के लोग बुरे काम के लिए तो बड़ों का नाम लेते हैं। बड़े ने यह किया, पर भले काम के लिए बड़े का कुछ याद नहीं करते। उन लोगों ने गरीबी सही तो तुम भी गरीबी सहो ना, पर उसके लिए राजी नहीं होते। उन्होंने परिग्रह का परित्याग करके अपने आत्मकल्याण में ही शेष जीवन गुजारा, इसकी भी भावना करो ना, पर वह भावना नहीं बनती है। भला किसी विषय में, परिग्रह में, भोग में समय गुजारने से कुछ संतोष भी रहेगा क्या? शांति से जीवन व्यतीत करना हों तो ज्ञान की तृष्णा मत करो, वैभव की तृष्णा करो। वैभव तो कदाचित् किसी की जान जानें के लिये भी हो जाता है। बड़ी-बड़ी हत्यायें इस वैभव के कारण सुनी गई हैं, डाकुओं के द्वारा, गुंडों के द्वारा। प्रतापी राजाओं ने अपने उस प्रताप का दुरुपयोग करके धनसंचय किया, उनकी बुरी दुर्गति हुई। अभी हाल की भी अनेक इस प्रकार की इन सभी घटना को देख लो। यह धन वैभव तो अशान्ति ही उत्पन्न करने का कारण बनता है।

किसी घर में किसी इष्ट की वियोग हो जाये तो उसे समझाने लिये अनेक लोग आते हैं। वे सभी नाती रिश्तेदार ऐसी याद दिलाते हैं कि वह बड़ा कमाऊ था, बड़ा भोक्ता थे, सबको प्रिय था, उसके सारे गुण बखानते हैं। वह घर की कैसी व्यवस्था करता था, किसी को तकलीफ न देता था, सबको आराम से रखता था। अरे इन सब बातों के स्मरण दिलाने से कहीं इष्ट वियोग से उत्पन्न होने वाला दुःख दूर होगा? वह तो बढ़ेगा। इष्ट वियोग से उत्पन्न हुए दुःख के दूर होने का उपाय है भेदविज्ञान का जगना। भेदविज्ञान जागे बिना अर्थात् सब जीव न्यारे-न्यारे है, सब जुदी-जुदी आयु लिए हुए हैं, किसी का किसी से कुछ सम्बन्ध नहीं है—ऐसी सही बात मालूम हुए बिना दुःख दूर नहीं हो सकता है। मोह का दुःख मोहभरी बातों से दूर नहीं हो सकेगा।

मैया ! क्या किया उन पुराण पुरुषों ने? कौरव और पांडवों का जब भारत में शासन था, उस समय उनका कितना प्रताप था, कितना धन वैभव था महायुद्ध हुआ, जो आज इतिहास में महाभारत के नाम से प्रसिद्ध है। उसमें कितना संहार हुआ ? अंत में रहा क्या? कौरवों के वंश में कोई नहीं बचा और होगा भी कोई तो पता नहीं। यहाँ पाण्डवों को वैराग्य हो गया। वह जहाँ का तहाँ ही सारा धन पड़ा रह गया। इतनी लड़ाई लड़ने के बाद न कौरवों को उसका मजा आया और न पाण्डवों को। हां, आनंद उन पांडवों को अपनी शुद्धता और आत्मसेवा के कारण आया। वे निर्वाण पधारे। यह परिग्रह, इसकी तृष्णा जीव को शल्य की तरह दुःख देती है। जैसे पैर में कांटा चुम जाये तो वह वेदना पहुंचाता है। इसी प्रकार तृष्णा का परिणाम भी आ जाए तो वह इसे शल्य की तरह चुमो-चुमो कर दुःख देता है। जिन्होंने इस शल्य को त्याग दिया, वे ही सब मनुष्य सुखी हुए हैं। शल्यधारी तो संसरण करते रहते हैं।

चार चोर थे । कहीं से दो लाख का धन चुरा लाए और रात ही रात चलकर उन्होंने कहीं चार बजे डेरा डाल दिया । सुबह होती है तो वे चारों चोर कहते हैं कि माल पीछे बांट लेना, पहिले आनन्द से भोजन तो कर लो । अच्छी बात । दो को तो भेजा पास के नगर में भोजन लाने के लिए और दो बैठे रहे माल ताकने के लिए । नगर में जाने वाले चोरों के मन में आया कि अपन ऐसा करें कि उस मिठाई आदि में विष मिला दे, उन दोनों को खिला देंगे सो मर जायेंगे, लाख-लाख का धन अपन दोनों बांट लेंगे । यहाँ उन दोनों के मन में आया कि अपन ऐसा करें ना कि जैसे ही वे सामने दिखें बंदूक से दोनों को उड़ा दें, फिर अपन को एक-एक लाख का धन मिलेगा । ज्यों ही वे विष मिला हुआ मीठा लेकर आए कि उन दोनों ने उन्हें गोली से मार दिया । वे मर गये । अब उन दोनों ने सोचा कि यह बढ़िया मिठाई है, खा लें, फिर धन बाटेंगे । उस मिठाई को खाकर वे दोनों भी मर गए । सारा का सारा धन वहीं रह गया, किसी के हाथ कुछ न रहा ।

यह लक्ष्मी चंचला है जिसके न आने का भरोसा, न जाने का भरोसा, न रहने का ठिकाना । इस लक्ष्मी के पीछे कितने बंडर मायाचार किए जाते हैं । अपने को संतोष और आनन्द में नहीं रख पाते हैं । रात दिन पर को सब कुछ मानकर पर के प्रति नाना कल्पनाएं मचाया करते हैं, यह वैभव यही रह जायेगा और इसके ये साथी सब कभी न कभी बिछुड़ जायेंगे । यह मनुष्य जीवन क्या परिग्रह के संचय के लिए पाया है? इन तृष्णालु मनुष्यों से भले तो वे पशु पक्षी नजर आते हैं जिन्हें कल को खाने के लिए संचय करने की भी चिन्ता नहीं है । जब मिल गया तब खा लिया । उन्हें कोई डर ही नहीं है, कोई सामने लाठी लेकर आये तब ही उनको डर है, पर मनुष्यों को तो २४ घंटे डर हैं । न कोई लट्टू लेकर आये, कानून की कल्पना हो गई, कैसे बनेंगे कानून, ऐसी आशंका हो गयी कि निरन्तर भय बना रहता है । यह परिग्रह इस जीव को शत्य की तरह दुःख देता है ।

जगत् में सुखिया सम्यक्वान—यहाँ एकान्त से यह शिक्षा न लेना चाहिए कि क्या हम घर छोड़कर ऐसे ही तुम्हारी तरह हो जायें । यह बात होना कठिन है, पर इसके लिए बात नहीं कहीं जा रही है । परिग्रह है, रहे, परन्तु ज्ञान तो अन्तङ्ग में यथार्थ होना चाहिए, जिससे यह हिम्मत बने कि जो आज है कल न रहे तब भी मेरा कुछ बिगाड़ नहीं है । ‘‘जगत् में सुखिया सम्यक्वान । भीख मांगकर उदर भरे, न करे चक्री का ध्यान ॥’’ सम्यग्दृष्टि की महिमा अवर्णनीय है । भीख मांगकर पेट भर लेते पर चक्रवर्ती कं वैभव का ध्यान भी नहीं करते । कैसे-कैसे राजा लोग हुए हैं? अभी यहीं देखो बड़े-बड़े चक्रवर्ती आचार्यों के पास आकर उनके दास बनते हैं । कुछ लोग ऐसे भी हैं जो परिग्रह का परिमाण रखते हैं । हमारा ५० हजार का ही परिमाण है इस प्रकार का परिमाण कर लेने, परिग्रह का परिमाण कर लेने पर फिर तृष्णा नहीं जगती है, परिग्रह के परिमाण से बड़ी निर्मलता जग जाती है और जो परिग्रह को सर्वदा त्यागकर केवल एक आत्मकल्याण के लिए ही अपना जीवन लगाये हैं उन साधु संतों को तो परम प्रसन्नता रहती है । यह भावनावंतों की बात कहीं जा रही है, उसको सुनकर अपने मन में यह उत्साह करना है कि मार्ग तो वही श्रेष्ठ था और इस मार्ग से चलकर उन्होंने अपना उद्धार किया, हमारा भी पंथ वही है । उन्होंने तो परिग्रह को

पाकर फिर त्याग किया । भोगों को भोगकर त्याग किया । यहाँ यह और भावना बना लो कि मुझमें ऐसी सुबुद्धि जगे कि भोगों के भोगे बिना ही मैं पापों से निवृत्त होऊँ । देखो एक कोई कथानक सी है । एक संन्यासी अपने खप्पर में भिक्षा मांगकर लाया, भिक्षा में उसे एक दो लड्डू भी मिले । चलते-चलते एक लड्डू खप्पर से गिरा गया, और गिरा भी मैला पर खराब जगह पर । लालचवश उसको उठा लिया । लोगों ने देखा तो कहा—यह क्या कर रहे हो ? एक अशुचि स्थान पर पड़ा हुआ लड्डू उठा रहे हो । तो वह कहता है—अरे चुप रहो, तुम्हें क्या पता है, मैं इस लड्डू को आश्रम में ले जाकर धोकर फेंक दूँगा । इतना सुनकर तो लोग और भी हँसने लगे । इसमें कौन सी चतुराई है? अशुचि स्थान पर पड़े हुए लड्डू को धोने में और फेंकने में क्या चतुराई है ? ऐसी बात सुनकर हम आपको भी तो हँसी आती है, पर अपने आपके लिए हँसी क्यों नहीं आती है ? यह कौनसी चतुराई है कि अशुचि अपवित्र इन भोगों को भोगकर फिर इन्हें तजने का विचार करूँगा, इतना कुछ कर लूँ, इतना भोग लूँ, फिर इन्हें छोड़ूँगा—ऐसी कल्पना करने वाले और उस अशुचि लड्डू को उठाने वाले इन दोनों क्या अन्तर है ? कोई पुरुष कीचड़ लगाकर फिर कीचड़ को साफ करें, चूँकि मुझे नहाना है इसलिए खूब कीचड़ लगा लूँ, फिर खूब नहाऊँगा, ऐसी कोई कल्पना करे तो उसे कोई विवेकी न कहेगा । यों ही इन परिग्रहों को, भोगों को भोगकर फिर त्यागने का संकल्प करे कोई तो वह परमविवेकी नहीं है । दुःखों की खान यह सब बाह्यपदार्थों का उपयोग है । एक कहावत में कहते हैं कि एक बार ईश्वर के पास गुड़ गया और बोला, महाराज हम बड़े दुःखी है, हमारी प्रार्थना सुन लो । क्या है दुःख गुण बोला—सरकार, जब मैं खेत में खड़ा था गन्ने के रूप में तो लोगों ने मुझे तोड़-तोड़कर खाया, फिर वहाँ से बचा तो कोल्हू में पेल-पेलकर रस बनाकर पिया, कचूमर निकाल डाला । वहाँ से बचा तो कड़ाही में तपा तपाकर राब बनाकर खाया, वहाँ से बचा तो गुड़ बनाकर खाया और वहाँ से भी बच गया तो लोगों ने तम्बाकू में मिला कर खाया । महाराज मुझे बड़ा कष्ट है । तो ईश्वर बोला—अभी तू यहाँ से हट जा, यही तेरा न्याय है । अरे महाराज यह कैसे? अरे तेरी इतनी बात को सुनकर तो मेरे मुख में पानी आ गया । तू यहाँ से हट जा, नहीं तो बच न पायेगा । कितनी विचित्रता की बात है कि जो चौज प्रकट भिन्न है, साथ न रहेगी उस वस्तु के प्रति कितना अनुराग, कितना मोह कि अपना जीवन भी बरबाद किया जाता है, ठीक है । जब दूसरों के पुण्य का उदय है तो क्यों न इतना श्रम करेगा और भ्रम करेगा? जो पुरुष बड़ा श्रम करते हैं धनसंचय के लिए, उनके श्रम का निश्चय से फल तो वही तुरन्त भोग लेता है । वह फल है कष्ट का । किन्तु व्यवहार से उसके श्रम का फल दूसरे भोगेंगे, यह नहीं भोग सकता । दूसरों के पुण्य का उदय है इसलिए अथक परिश्रम करके यह इतने परिग्रह का लोलुपी हो रहा है । इस परिग्रह की तीन गति बताई हैं—दान, भोग और नाश । जो दान करता है और भोग करता है उसके तो मरण के समय में कुछ संतोष रहता है । मैंने कमाया, श्रम किया तो उसका सदुपयोग किया । जो न दान करता है, न भोग भोगता है, न खाता पीता है सुख से, उसको बड़ा कष्ट होता है, ऐसी तो तृष्णा कर करके धन जोड़ा और यहाँ सारा का सारा पूरा एक साथ छूटा जा रहा है । जो द्रव्य न दान में लगता है, न भोग में लगता है तब तीसरी बात क्या होगी? नाश

। ये ही तीन अवस्थाएँ परिग्रह की हुआ करती हैं । अरे इन परिग्रहों को तू पहिले ही त्याग दे, ये ही परिग्रह तुझे छोड़ देंगे इससे पहिले तू ही इन परिग्रहों को छोड़ दे । हास्य का पात्र तू मत बन । कितनी बड़ी सुविधा है आत्मकल्याण करने के लिए आराम से जहाँ बैठे हैं, लेटे हैं, कैसी भी स्थिति है, भीतर ही भीतर एक ज्ञानप्रकाश बना है, एक अपने आपका ही अन्तरङ्ग में काम किया जा रहा हो तो यही एक शान्ति का मार्ग है । अपने आपको सबसे निराला आकिञ्चन्य ज्ञानमात्र आनन्दमय निरख लेना इसही से शान्ति मिलेगी । दूसरों की नौकरी ही करना है क्या ? अरे इन भोगविषयों से, परिग्रहों से, तृष्णावों से कुछ विराम लो और अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभव कर एक आत्मसंतोष प्राप्त करो, यही है हम आप सबकी उन्नति का मार्ग ।

श्लोक (४१)

सर्व धर्ममयं क्वचित् क्वचिदपि प्रायेण पापात्मकं ।
क्वाप्येतद् द्वयवत्करोति चरितं प्रज्ञाधनानामपि ॥
तस्मादेष तदन्धरञ्जुवलनं स्नानं गजस्याथवा ।
मत्तोन्मत्तदिवेष्टितं न हि हितो गेहाश्रमः सर्वथा ॥ ४१ ॥

गृहस्थ का विवेक—जैसे गृहस्थ थोड़ीसी धन हानि को बड़ी हानि करके मानते हैं और बहुत से लाभ को भी थोड़ा करके मानते हैं, ऐसे ही विवेकी पुरुष अपने थोड़े से भी दोष को बढ़ाकर के मानते हैं ताकि उसमें खेद और पछतावा अधिक होकर उस दोष से छुट्टी पायी जा सके और बहुत गुण भी उत्पन्न हो गए हों फिर भी उन्हें थोड़ा मानते हैं ताकि गुणों के विकास में अपना उत्साह बना रहे । ऐसे ही प्रसंग में इस छंद में यह बताया जा रहा है कि गृहस्थ का आश्रम हितरूप नहीं है । यद्यपि धर्म २ प्रकार के हैं—गृहस्थ धर्म और मुनि धर्म, फिर भी यह तो सभी बताते हैं कि गृहस्थधर्म पूर्व की चीज है, उसके पश्चात् अंतिम रूप तो साधुधर्म का होना ही पड़ेगा तब कल्याण है, इस गृहस्थ को भी इसका बोध है । यदि गृहस्थ धर्म में संतोष हो जाये और यहाँ ही सारे गुण नजर आने लगें तो आगे बढ़ने का वह उद्यम क्या करेगा? गृहस्थ का स्वरूप ही यह बताया है कि जो व्यक्ति साधु धर की उपासना करता है, साधु होने की भावना रखता है उसका नाम सद्गृहस्थ ।

गृहस्थचर्या की विभिन्नता—गृहस्थ आश्रम में रहकर जो धर्मसाधना की जाती है उसका कभी तो यह रूप का बनता है कि खूब धर्म में ही समय व्यतीत हो । जैसे उपवास ठान लिया, मंदिर आदि धर्मस्थानों में ही निवास किया, प्रतिक्रमण आलोचना, सामायिक आदि शुद्धभावों की प्रक्रियाओं सहित समय बिताया, धर्ममय जीवन बिताया, किन्तु यह तो दो तीन घंटे के लिये, दो तीन दिन के लिए है, आखिर फिर घर में उन बाल बच्चों में ही आना पड़ा, धन वैभव सम्बन्धी सभी बातें करनी पड़ीं, दो तीन दिन धर्ममय जीवन कर लिया था, धर्ममय कार्यों के बावजूद भी यह गृहस्थ प्रायः पापरूप भी प्रवृत्ति करता है । यही गृहस्थ जिसने उपवास, प्रतिक्रमण, विधान, पूजन, वंदन सामायिक आदि नाना उपायों से दो चार दिन धर्ममय व्यतीत किये थे वही गृहस्थ ही तो घर में फिर पापात्मक कार्य करता है । विषयसेवन अथवा परिग्रह का संचय दुकानदारी और

सभी बातें ये भी तो करता है, जिसमें पाप ही अधिक है और कभी ऐसे भी कार्य करता है जिन में अधिक तो पुण्य और कुछ पाप दोनों चलते रहते हैं।

मिश्र कार्य का उदाहरण—जैसे तीर्थयात्रा करने गये तो तीर्थयात्रा विशेष पुण्य भावों को बांधती है, पर वहाँ की क्रिया में कुछ पाप भी साथ-साथ चलते हैं। जाना आना, चौरें उठाना धरना, घबड़ाहट करना, रेल में जल्दी-जल्दी चढ़ना उतरना, और कोई बिल्कुल ही कहो कषाय से रंगा हुआ हो तो रेल में चोरी करके जाये, बच्चा १४ वर्ष का है और १२ वर्ष तक आधा टिकट पड़ता है तो कहो आधे टिकट से ही जान बूझकर भी ले जाये, यह चोरी ही तो है। उस पुण्यकार्य में ये पापरूप कार्य भी चलते हैं। न कोई ऐसी चोरी करे तो भी चलना ठहरना, उठना बैठना, अन्य प्रोग्राम बनाना इनमें अनेक आकुलताएँ होती हैं, ऐसे पाप भी साथ-साथ चल रहे हैं। कोई गृहस्थ कार्य ऐसे होते हैं जिनमें पुण्य विशेषरूप से हो, किन्तु साथ ही पापभाव भी चल रहे हैं।

अन्धरज्जुवलन—गृहस्थ कभी तो केवल धर्म में अपनी प्रवृत्ति करता है। जैसे दसलाक्षणी के दिनों में दो चार दिन के लिए उपवास करना, गृह की ममता त्यागना, रोजगार आदि भी न करना, मंदिर में ही रहकर धर्मसाधना करना—ऐसा सब प्रकार से निष्पाप जीवन व्यतीत करना चाहता है। कभी तो यों धर्ममय स्थिति बनती है और कभी पापात्मक स्थिति बनती है और कभी पुण्य पाप दोनों साथ चला करते हैं। यह चर्चा गृहस्थ आश्रम की करी जा रही है। गृहस्थ को गृहस्थधर्म भली प्रकार निभाते हुए भी आत्महित के लिए उद्यम करना चाहिए। गृहस्थ अपने आश्रम को, धर्म को, परिस्थिति को निष्प्र श्रेणी का जानता है, इसमें सर्वथा हित नहीं है। उसकी ये सब प्रवृत्तियां अंधरज्जुवलन जैसी है। जैसे अंधा पुरुष रस्सी भांजता है तो पीछे उकलती जाती है, यह तो नहीं दिख रहा है ना कि पीछे रस्सी उकल रही है। वह तो भांजता जाता है। तो जैसे अंधा रस्सी को भांजता जाता है पीछे उकलती जाती है, काम सिछ नहीं हो पाता, ऐसे ही गृहस्थ धर्म में भी कुछ धर्म किया, फिर पाप की बातें आयी, फिर धर्म किया, फिर पाप की बातें हैं, यों यह गृहस्थ-आश्रम भी कोई विशेष फल को देने वाला नहीं है, ऐसा साधुजन सोच रहे हैं और गृहस्थजन भी सोचा करते हैं।

सद्गृहस्थ की सुदृष्टि—यद्यपि खोटे गृहस्थों से सद्गृहस्थ का दर्जा बहुत उत्कृष्ट है और गृहस्थधर्म भी अपने को संभालने वाला धम है। अपने व्रत की सीमा के अन्दर रहते हुए भोगों को भोगने के पश्चात् वह अपना अविकारी जीवन बनाता है। ऐसे ही धनसंचय को अपनी आजीविका के लिए करके भी उससे विरक्त रहता है। सद्गृहस्थ पुरुष गृहस्थी के साधनों को जोड़कर भी उससे विरक्त रहता है, यह उसकी एक आन्तरिक विशेषता है। फिर भी कोई विवेकी गृहस्थ अपनी गृहस्थ पदवी से संतोष नहीं करता कि मैं सब कुछ कर रहा हूँ जो मुझे धर्म के हित करना चाहिए। सकल संन्यास कर शरीर की भी परवाह न रखकर जिस दिन मैं आत्मा के ध्यान की ही धुनि बना लूँगा वही सही जीवन है। मैं उस ही क्षण की बाट जोहता हूँ। मेरे ऐसे क्षण व्यतीत हों कि मैं केवल आत्मा की ही धुन में रहूँ और अपने अनुभवरूप अमृतपान से अपने

आपको सदा तृप्त बनाये रहूँ । निर्विकल्प समाधि भाव से अपने आपको स्वच्छ बनाऊं—ऐसी भावना गृहस्थ के हैं और इसही भावना के प्रसाद से वह बसे हुए परिग्रह में संग में इच्छा भाव नहीं करता है, फिर भी यह गृहस्थ संतुष्ट नहीं हो रहा है अपनी गृहस्थ पदवी में ।

गजस्नान—गृहस्थ को गृहस्थावस्था के शुभ कर्तव्य भी गजस्नान की तरह दिख रहे हैं । जैसे हाथी स्नान कर लेता है, धूल हट जाती है शरीर साफ स्वच्छ धूलरहित उञ्ज्वल बन जाता है, लेकिन सरोवर में से बाहर आया कि अपने सूंड से धूल को उठाकर अपने शरीर पर डाल लेता है । जैसे गज स्नान करके भी धूल ऊपर डाल लेता है ऐसे ही इस गृहस्थ धर्म में लोग सुबह तो पूजन वंदन करक आत्मा को उञ्ज्वल बना रहे थे, दोपहर में क्या किया, शाम को क्या किया ? अब जिनवाणी का श्रवण करके, उपदेश को सुनकर अपने आत्मा को उञ्ज्वल बनाया जा रहा है । एक आध घंटे पश्चात् अब क्या करेगा, यों गृहस्थ धर्म के सब कर्तव्य गजस्नान की तरह हो रहे हैं । यह बात इस लक्ष्य को लेकर कही जा रही है कि गृहस्थ को भी अपने आत्मजीवन में गृहस्थधर्म तक की ही सीमा नहीं बनानी चाहिए । उसे अपने जीवन का आखिरी लक्ष्य गृहस्थी में रहकर इसही तरह कार्य करके जीवन बिताने का नहीं करना चाहिए । कदाचित वर्तमान काल की और अपने शरीर की परिस्थिति इस योग्य समझ रहा हो कि हमारे इस जीवन में साधुता न निभ पायेगी । इस भव में मुनि होना, निष्परिग्रह होना यह कठिन है मुझसे न निभेगा—ऐसा जानकर भी अन्तर में यह श्रद्धा बनाये हैं कि इस भव में न निभेगा तो किसी भव में मुझे बनना ही है, उसे ऐसी अभिरुचि है उस आत्मध्यान की कि मैं साधुधर्म अंगीकार करके निर्विघ्न आत्मध्यान के प्रताप से आत्मशुद्धि प्राप्त करूँगा । जिसके ऐसा परिणाम है उस गृहस्थ के इस गृहस्थ धर्म की बात कही जा रही है । यह तो उसे गजस्नान की तरह मालूम होता है ।

उन्मत्तविचेष्टित—विवेकी गृहस्थ को गृहस्थ के कर्तव्य उन्मत्त की चेष्टा जैसी बात विदित होती है । जैसे पागल पुरुष कभी इतने सुन्दर वचन बोल देता है कि जो ऊँचे भाषणकर्ता भी न बोल सकें, ऐसी उत्तम बात भी वह दो चार मिनट को कह देता है पर कुछ ही मिनटों के बाद में उसका पन्ना पलट जाता है, अदृ सदृ बकने लगता है । कभी वह बहुत अच्छी क्रियाएँ करता है लेकिन पश्चात् फिर अट पट क्रियाएँ करने लगता है । तो जैसे पागल पुरुष कभी धर्मकार्य भी करने लगे तो कुछ ही समय बाद वह उस धर्मकार्य को उल्टा करने में विवश हो जायेगा, वह अपने आधीन ही नहीं है, ऐसे ही इस गृहस्थ धर्म में किसी क्षण । किसी पूर्व के दिन या किसी भी समय धर्म में कुछ समय व्यतीत कर लें, पर होगा क्या ? कुछ ही समय पश्चात् उन्हीं सब रंगों में फिर रंग जाना पड़ता है । यों उन्मत्त की चेष्टा की तरह यह गृहस्थ धर्म है—ऐसा गृहस्थ भी स्वयं सोच रहा है, यह गृहस्थ आश्रम सर्वथा हितरूप नहीं है । भले ही यह गृहस्थधर्म अनर्गल प्रवृत्ति से रोकता है और व्यसनों से बचाता है, अनेक इसमें गुण और हित भरे पड़े हैं, फिर भी जिसने शाश्वत शान्ति का पथ पाया है, वह पुरुष इस गृहस्थ के आश्रम में संतोष नहीं करता ।

पथनिर्णय का प्रभाव—एक पुरुष संध्या के समय अपने गांव के लिए चला । गांव चार-पांच मील था ।

सोचा कि पहुंच जायेंगे, पर दो मील चलने के बाद ही एक विकट जंगल पड़ता था । संध्या के समय रास्ता साफ नजर न आने से और अनेक पगडंडियां होने से किसी भूले रास्ते से ही चल दिया । आधा मील चलने के बाद उसे भयंकर जंगल मिल जाता है, कुछ भी रास्ता न सूझता था । अब वह जंगल में फंसा हुआ सोचता है कि मुझे अब और आगे न बढ़ना चाहिए, क्योंकि और आगे बढ़ गए तो न जाने क्या परिस्थिति बन जाएगी और भी भयानक जंगल में फंसता जाऊंगा । ऐसा सोचकर वह वहीं ठहर गया । घनी अन्धकार की रात्रि थी । वह चिन्तामग्न था, प्राण बचेंगे कि नहीं, सुबह होते भी रास्ता मिलेगा कि नहीं, वह बड़ा व्यग्र हो रहा था । इतने में बिजली चमकी ओर उस क्षणिक चमक में जो दूर दृष्टि डाली तो सड़क नजर आयी । सोचा कि तीन चार फर्लाङ्ग दूर पर मुख्य सड़क है और उस सड़क के पास पहुंचने वाली यह छोटी पगडंडी भी लगी है, उसे क्षणिक बिजली की चमक में विदित हो गया । बिजली तो खत्म हो गयी, वही घनघोर रात्रि है, पड़ा भी वहीं है लेकिन जो विह्वलता उसे पहिले थी । वह विह्वलता क्या अब है? नहीं है । हालांकि वही जंगल है, वही घनघोर अंधेरा है, रात्रि है, सब कुछ परिस्थिति वही की वही है किन्तु उस क्षणिक प्रकाश में यह सब ज्ञात हो गया है कि अमुक मार्ग वह है और इस पगडंडी से वहाँ पहुंच लिया जाएगा । इतना अन्तर में परिज्ञान होने से, विश्वास होने से उसे निराकुलता है । अन्तरंग में वह सोचता है कि और ४, ६ घंटे की रात रह गयी । रात्रि व्यतीत होगी, प्रातःकाल होगा, प्रोग्राम उसका निश्चित हो ही चुका है । इस पगडंडी से जाऊंगा और मुख्य मार्ग पर पहुंच जाऊंगा और निर्विघ्न अपने घर पहुंच जाऊंगा ।

आत्महित मार्ग के निर्णय का प्रभाव—ऐसे ही यह जीव भूले भटके रास्ते से चल रहा है । इन्द्रिय के विषयों की, मन की कल्पनाओं की इसे बड़ी परेशानी है और इसी कारण आत्मा का जो सुन्दर पथ है, हितकारी मार्ग है, उस मार्ग से ब्रष्ट हो गया है और कभी किसी पगडंडी से, कभी किसी पगडंडी से यह चलता जाता है । यह एक भयानक अंधकार में फंस गया है । पता नहीं कि अब उद्धार होगा या नहीं? लक्षण तो बड़ा बुरा है, न ज्ञान ज्योति का अनुभव, न आत्मा का स्पर्श और ये काम क्रोध मान, माया, लोभ ये सभी के सभी उद्दण्ड होते चले जा रहे हैं । क्या हाल होगा? भयानक जंगल में फंसा है, लेकिन इस मिथ्यात्म की अंधेरी रात्रि में और विषयों के भयंकर बन में पड़ा हुआ जीव कुछ अपना विवेक बढ़ाता है और सोचता है कि जितना फँस गए ठीक है, अब और अधिक मत फंसो । जहाँ हैं वहीं बने रहने दो, देखा जायेगा । वह रुक गया । इतने में क्षणिक ज्ञान विद्युत् का प्रकाश होता है क्षण भर के लिए और उसही ज्ञानप्रकाश में इसे दिख गया कि मेरा चलने का मार्ग तो है साधुमार्ग, मुख्यमार्ग जो निर्विघ्न है उस मार्ग तक हम गृहस्थधर्म की पगडंडी से चलकर पहुंच जायेंगे, ऐसा उसे भान हो गया । अब भी वह उसही विषयवन में उसी संग प्रसंग में पड़ा हुआ है, किन्तु अब वह बेचैनी नहीं है जो बेचैनी उसे पहिले थी । प्रोग्राम तो निश्चित हो गया ना कि मैं ऐसा करूँगा । सकल संन्यास करके केवल आत्मा की भावना करके मैं इन समस्त इन्द्रों को, संकटों को मिटा लूँगा—ऐसा उसकी भावना में संकल्प हुआ है, बल प्रकट हुआ है, धर्म हुआ है, बस यही स्थिति समझिये सद्गृहस्थ की । हालांकि यह सद्गृहस्थ अभी उस मुख्य मार्ग पर नहीं लग पाया, फिर

भी मन में निश्चय होने से अशान्ति नहीं है ।

साधुमार्ग की आस्था—साधुमार्ग उत्कृष्ट मार्ग है, जहाँ कोई चिन्ता ही नहीं होती, केवल एक शरीर मात्र परिग्रह है, कोई शल्य का विषय ही नहीं है । न किसी से प्रेम, न किसी से मोह, सब कुछ त्याग दिया है । साधु तो द्विज कहलाता है । द्विज का अर्थ है जिसका दूसरी बार, जन्म हो । पहिला जन्म तो है मां के पेट से पैदा होने वाला और दूसरा जन्म है साधुब्रत ग्रहण करने का । जिसने साधुब्रत ग्रहण कर लिया है उसने दूसरा जन्म कर लिया है । जैसे मरने के बाद दूसरा जन्म होने पर पहले जन्म के चिन्ताशोक कुछ नहीं रहते हैं ना, इसी तरह साधुधर्म को ग्रहण करने पर पहिले जीवन के, गृहस्थ जीवन के शल्य चिन्ता शोक जो कुछ भी है, अब वे नहीं रहते हैं इसी से साधु का नाम है द्विज । मैं साधुमार्ग को अंगीकार करके सकल संकटों का मिटा लूंगा—ऐसा इस गृहस्थ के हृदय में प्रोग्राम है और इस प्रोग्राम का ऐसा बल इसे मिला हुआ है कि यह अन्तरङ्ग में आकुलित नहीं होता । लेकिन फिर भी जिस गृहस्थी के आश्रम में रह रहा है गृहस्थ उस गृहस्थ आश्रम में संतोष नहीं कर रहा है । यह ही मेरा सब कुछ है और मैं सब कुछ कर चुका हूं—ऐसी उसकी कल्पना नहीं चलती है ।

कल्याणार्थी का संकल्प—जो अविवेकी पुरुष हैं, मूढ़ पुरुष हैं वे तो इसही में मस्त रहते हैं । सब कुछ यही पाया है, ऐसी उनकी कल्पना है और वे अन्याय अभक्ष्य की प्रवृत्ति में भी चलते हैं व दलील देते हैं, मनुष्य इसीलिए तो हुए है कि जो कुछ भी खाया जा सकता है उन सबको खाया जाये, मौज लूटा जाये । यह उनकी कथा नहीं है जो सद्गृहस्थ है, अहिंसा अणुब्रत, सत्य अणुब्रत, अचौर्य अणुब्रत, ब्रह्मचर्य अणुब्रत और परिग्रह परिमाण अणुब्रत जिनके हैं । इन सद्गृहस्थों की भावना चूँकि सकल संन्यास की है अतः गृहस्थाश्रम में उसे हित नजर नहीं आता है और उसकी दृष्टि में यह जंच रहा है कि यह गृहस्थाश्रम तजने के ही योग्य है, कल्याणकारी नहीं है । करते जाते हैं सभी काम, धर्ममय कार्यों में भी पीछे नहीं रहते और अपनी जिम्मेदारी को भी कलापूर्वक निभाते हैं तिस पर भी संयम की ओर इनकी निगाह लगी हुई है । मेरे करने योग्य कार्य तो सकलसंयम है, यो यह उपासक बड़ी श्रद्धासहित मुनिमार्ग को यों निरखता है कि निर्वाण विभूति के साधने वाला तो यही निर्गन्ध मुनिधर्म ही है, इससे ही निर्वाण सिद्ध होता है । मेरा गृहस्थ आश्रम विचित्र विभिन्न प्रकार का है, मैं भी ऐसे साधुमार्ग को ग्रहण करूँ—ऐसी भावना करता हुआ यह सद्गृहस्थ अपनी स्वच्छता बनाता है ।

श्लोक (४२)

कृष्ट्वोप्त्वा नृपतीन्निषेद्य बहुशो भ्रान्त्वा वनेऽम्भोनिधौ ।
 किं क्लिश्नासि सुखार्थमत्र सुचिरं हा कष्टमज्ञानतः ॥
 तैल त्वं सिकतास्वयं मृगयसे वाञ्छेद्विषाज्जीवितुं ।
 नन्वाशाग्रहनिग्रहात्तव सुखं न ज्ञातमेतत् त्वया ॥ ४२ ॥

उत्कष्ट भाव का प्रताप—उत्कष्ट भाव होने पर वर्तमान पदवी में स्थिरता की जा सकती है । वर्तमान स्थिति जैसी हो, उतने मात्र को ही निरखकर भाव करने से वर्तमान स्थिति भी ठीक नहीं रह सकती है । इसका भाव यह है कि गृहस्थ पुरुष यदि गृहस्थ के पद को निभाने तक ही अपनी बुद्धि मनाये तो वह अपने गृहस्थ के कर्तव्य को भी सफलता से न निभा सकेगा । सद्गृहस्थ गृहस्थी के कर्तव्यों को करते हुए मुनिधर्म की उपासना का भाव रखता है तब गृहस्थ के योग्य उसके ज्ञान और वैराग्य की स्थिति रहती है ।

गृहस्थाश्रम के कष्ट ओर आनन्द की विधि—इस छद्मे में गृहस्थाश्रम के कष्टों का वर्णन किया है । इस वर्णन का ध्येय यह है कि भावना में यह बात बस जाये कि यह गृहस्थाश्रम रमने योग्य नहीं है । जिस किसी भी क्षण यह समय आये कि मैं देहमात्र का भी ध्यान न करके, किसी परपदार्थ में मोह और राग न करके केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र अपने सहजस्वरूप को निरखूँ, ऐसा क्षण जब हमें प्राप्त हो तो वह ही स्थिति हमारे कल्याण के लिए है । ऐसी भावना रखते हुए पुरुष गृहस्थावस्था के कष्टों की बात देख रहा है कि यह गृहस्थ इतने कष्टों को भोगकर उनमें ही रमता है और उनमें ही सुख को ढूँढ़ता है । सुख आनन्द जिस विधि से मिलता है वह विधि कहीं नहीं बदलती है । साधु हो तो भी आनन्द उसही विधि से मिलेगा, गृहस्थ हो तो भी आनन्द को विधि से ही आनन्द मिलेगा । ऐसा नहीं है कि साधुओं को तो आत्मा के ध्यान में आनन्द मिलता है और गृहस्थ को स्त्री पुत्रों के प्रेम से आनन्द मिलता है, ऐसा भेद नहीं है, । आनन्द की विधि जो हैं उसही विधि से आनन्द प्रकट होता है ।

क्षोभ और आनन्द में अन्तर—इस प्रसंग में ऐसा प्रश्न हो सकता है कि स्त्री पुत्र के प्रेम से भी तो आनन्द मिलता है ना, क्यों उसका निषेध किया जा रहा है? उसे आनन्द नहीं बोलते हैं, उसे क्षोभ बोलते हैं । कोई क्षोभ होता है हर्ष की व्यक्ति को लिये हुए और कोई क्षोभ होता है विशाद की व्यक्ति को लिये हुए । क्षोभ उसे कहते हैं जहाँ कुछ उमड़ उमंग विषमता हो, और जहाँ समता है, गम्भीरता है उसे आनन्द कहते हैं परिजन के मोह से, विषयों के सेवन से जो हर्ष उत्पन्न होता है वह हर्ष क्षोभ को लिये हुए होता है, गम्भीरता को लिये हुए नहीं है । इसी कारण इन विषयों के सम्बन्ध से इस आत्मा को अपने स्वरूप की अनुभूति नहीं होती है । हर्ष भी क्षोभ है, विशाद भी क्षोभ है । आनन्द तो ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र अंतस्तत्त्व के आश्रय से ही प्रकट होता है । आनन्द की दो विधियां नहीं हैं । यह गृहस्थ सम्यग्दृष्टि जितने अंशों में सहज ज्ञानस्वरूप का दर्शन आलम्बन कर पाता है उतने अंशों में आनन्द पाता है, उस आनन्द का जिसे परिचय हुआ है वह गृहस्थ

गृहस्थाश्रम के बंधन को, फंसाव को विडम्बना समझ रहा है ।

आजीविकाप्रसंग के कष्ट—देखो गृहस्थ आश्रम में यह ही तो एक आधार है आजीविका का । खेती करना, राजाओं की सेवा करना अथवा व्यापार करना, व लेखन, सेवा, शिल्पी करना—इन सबमें यह जीव कितना सुख की आशा से क्लेश भोगता है । यहाँ यह प्रश्न नहीं उठाना तो फिर हम करें क्या? क्या इसे छोड़ दें? इस प्रश्न का प्रसंग नहीं है । यहाँ तो आत्मीय आनन्द के मार्ग में लगने के लिए पर और परपरिणतियों से विरक्ति की बात कही जा रही है । छोड़ दे कोई तो भला है, किन्तु विधिपूर्वक सच्चाई के साथ ज्ञानभक्ति सहित वैराग्य की प्रेरणा से छोड़ सके कोई तो छोड़ दे । ऐसा पुरुष तो लाखों में एक बिरला ही निकलता है । हां खेती में कितना परिश्रम है और समय-समय पर कितनी आशंकाएं हैं, क्लेश हैं? कृषि के प्रसंग में गांवों में रहना पड़ता है, खोटे असभ्य जनों के बीच में निवास है और हीन-क्रियायें करनी पड़ती हैं । जरा-जरा से प्रसंगों में मान भंग होता है, परस्पर में ही किसी बात पर विवाद हो जाए तो एक दूसरे का घात करने के लिए भी उद्यत रहा करते हैं । यहाँ यह बात कही जा रही है कि साधुर्धम से नीचे आत्महित के नीचे जितने भी कर्तव्य है, इन सब कर्तव्यों में क्लेश ही क्लेश बसा हुआ है और हित का मार्ग रुका हुआ है ।

सेवाव्यापारविषयक क्लेश—भैया ! यद्यपि गृहस्थ को आखिर यही सब करना पड़ता है, किन्तु मुख्यरूप से इस आत्महित के लिए करने योग्य काम क्या है ? उसकी भावना बिना हम गृहस्थ के कर्तव्य को भी भली भांति नहीं निभा सकते हैं । राजाओं की सेवा सैनिक बनकर, शास्त्रविद्या सीखकर या अन्य-अन्य कार्यों की शिक्षा लेकर सेवाएँ की जाती है, उन सेवाओं के करने के प्रसंग में भी कोई ऐसी आभा या झलक नहीं मिल पाती है, जिससे आत्मसंतोष हो सके । व्यापार के लिए वन में, समुद्रों में यत्र तत्र डोलना पड़ता है । समय पर व्यवहारधर्म का पालन अथवा शुद्ध भोजन आदिक व्यवस्थाएं भंग हो जाती है । इतने बड़े कष्ट को सहकर भी गृहस्थ सुख की आशा रखता है । मुझे इस कार्य से सुख मिलेगा । इतना धन संचित कर लूं तो उससे सुख मिलेगा । इस प्रकार की कितनी ही विडम्बित आशाएं यह मोही प्राणी बनाये हुए हैं ।

परिग्रह में सुख का अनवसर—क्या कोई निर्णय दे सकता है कि इतना धन संचित हो जाए तो सुख मिलेगा ? कहीं पुस्तकों में लिखा हो तो सुना दो या कोई कमेटी बनाकर एक निर्णय तय करके बता दो कि इतना धन हो जाने पर सुख मिलेगा ? कोई निर्णय करके तो बताओ कि कितना परिवार हो जाने पर सुख मिलता है कोई इसका निर्णय नहीं दे सकता है, क्योंकि आनन्द की ये विधियां ही नहीं हैं । यह जीव अज्ञान से सुख का प्रयोजन सोचकर इन सब व्यवहारों में क्लेश करता है । इसका यह क्लेश बालू में से तैल निकालने के यत्र की तरह है । कोल्हू में रेत डालकर रेत के पेलकर कोई तैल की आशा करे तो उसको तैल प्राप्त करने की आशा करना व्यर्थ है । इसी प्रकार बाहरी पदार्थों की ओर आकर्षण करके अपने स्वरूप में रीता बनकर, बाहर ही कुछ खोजकर आनन्द की आशा करे तो उसकी आशा व्यर्थ है ।

पुराण पुरुषों ने भी कैसा साम्राज्य किया, कैसा कुटुम्ब बसाया? लेकिन फल क्या मिला ? किन्हीं पौराणिक कथाओं को भी सुन लो या वर्तमान के बड़े पुरुषों के जीवन को निरख लो, कुछ सार नजर नहीं

आता । लाख बात की बात यही एक निश्चय में लायें कि आत्मा के शुद्ध ज्ञानस्वरूप को अपने अनुभव में लिए बिना शान्ति नहीं आ सकती है ।

बाह्य अनवकाश में आनन्द का अनवसर—भैया ! बाह्यपदार्थों की ओर दृष्टि करके कुछ मौज मान लिया जाए तो वह स्थिर कहां होगा ? बाह्यपदार्थ मेरे आधीन नहीं । इस सांसारिक सुख में कितनी पराधीनता है । प्रथम तो कर्मों का उदय अनुकूल हो तब सुख की आशा रखें । कर्मों का उदय सदा अनुकूल नहीं रहता । वह तो आया मिटने के लिए, फिर नो कर्म अर्थात् विषयसाधन भी अनुकूल हों, यह भी अपने वश की बात नहीं है । बाह्यपदार्थ मिलें, न मिलें, परिजन और मित्रजन मेरे मन के अनुकूल चलें, न चलें, कोई हमारा अधिकार नहीं है । हो जाए अट्टसट्ट कोई अनुकूलता तो यह भी हमारे अधिकार की बात नहीं है । फिर देह की जो इन्द्रियां हैं और मन है यह भी कुछ स्वस्थ बना रहे, सावधान रहा करे तो सांसारिक सुख कुछ प्राप्त किया जा सकता है, सो इसका भी विश्वास नहीं है कि ये इन्द्रियां समर्थ रह सकें, सावधान रह सकें, मन काबू में रह सके, यह मी अपने वश की बात नहीं है । जिस स्थिति की बात कही जा रही है इसको ध्यान में रखकर सुनना है । इस प्रकार की स्थिति में किन्हीं बाह्यपदार्थों से हम आनन्द की भीख मांगे, आनन्द की आशा करें तो जितना हम कुबुद्धि में बढ़ते चले जायेंगे, उतना ही हमारा आनन्द दूर होता चला जायेगा ।

पर को शरण मानना मात्र भ्रम—जिस जमाने में श्रीराम और श्री कृष्ण आदि शलाकापुरुष हुए हैं, उनके समय में कितना वैभव, कैसा चमत्कार और क्या सामर्थ्य था । उनके जीवन को ही देख लो कि अन्त में किस-किस तरह से विघटना पड़ा । कृष्ण और बलदेव का कैसा वियोग हुआ, कब संयोग हुआ? इतनी अधिक प्रीति नारायण और बलभद्र में होती है, जिसका उदाहरण और कुछ नहीं हो सकता । राम और लक्ष्मण इनकी प्रीति, कृष्ण और बलदेव इनकी प्रीति अगाध थी । एक ने दूसरे के पीछे जंगल में भटकना स्वीकार किया । अन्त में उनका भी वियोग होना पड़ा तथा और पुरुषों के भी बादशाहों के भी और इतिहास में वर्णित पुरुषों के भी चरित्र सुन लो । अरे ! उनका चरित्र क्या सुनना, सब कुछ आंखों तो देखते जा रहे हैं । कहां सार कहां असार ढूँढ़ते हो ? किस चीज का आश्रय पकड़े कि हमारा जीवन कृतार्थ हो जावे? बाहर में अन्य कोई सहारा नहीं है । जड़ पुद्गल धन के संचय का इस प्रकार का कोई भी सहारा नहीं है कि जिससे यह जीवन धन्य हो जाये, कृतार्थ हो जाये । परिजनों में, सचेतन परिग्रहों में भी कोई ऐसा जीव नहीं है, जिसका शरण गहें कि कृतार्थ हो जाये ।

वास्तविक शरण कौन ?—व्यवहार से प्रभु परमात्मा हमारे लिए सहारे हैं और निश्चय से हमारे लिए हमारे ही शुद्धस्वरूप का दर्शन सहारा है । अन्य किसी में आनन्द की आशा करना, अन्य वस्तु से भीख मांगना यह व्यर्थ की ही बात है । अपने स्वरूप को कुछ संभालो । अपने में और प्रभु के स्वरूप में कुछ अन्तर नहीं है । सभी लोग कहते हैं कि घट-घट में प्रभु बसा हुआ है, इसका अर्थ क्या है ? घट-घट का अर्थ है—देह देह में । जितने भी ये देहरूपी घड़े हैं इन सब घड़ों में प्रभु विराज है । तो यह मेरा घट जिसको हम लादे-लादे फिर रहे हैं इस घट में भी प्रभुस्वरूप विराजा है । उस प्रभुस्वरूप की ओर निहारो, उस स्वरूप की अपेक्षा प्रभु में

और मुझमें अन्तर नहीं है। बीच में भ्रम की दीवाल, पर्यायबुद्धि का पर्दा है। भ्रम की ओट दूर कर दे तो प्रभु से सचमुच मिलन हो सकता है। प्रभु मिलन के लिए अन्य लोगों के मोह के त्याग की प्रथम आवश्यकता है।

ज्ञानबल और प्रभुमिलन—भैया ! मिल लीजिए जिससे मिलना हो। प्रभु से मिलना हो तो प्रभु से ही मिलने की धुनि बनावो। और बाह्यपदार्थों से ही मिलना है, स्त्री पुत्रादिक से ही मिलना है तो उनसे ही मिलने की धुनि बनावो। दोनों बातें एक साथ न निभ सकेंगी, कारण यह है कि प्रभु तो वीतराग निष्कलंक है और परिज्ञन मित्रज्ञन सराग और सकलंक है। एक ही उपयोग में निष्कलंक और सकलंक दोनों का विराजना हो जाये, यह हो नहीं सकता है। विवेक बनायें तो ज्ञानी गृहस्थ पुरुष भी घर के समस्त कार्यों को करते हुए भी उपयोग में प्रभुस्वरूप को बसाये रह सकते हैं, ऐसी सामर्थ्य तत्त्वज्ञान में बनी हुई है। एक तत्त्वज्ञान ही शरण है। तत्त्वज्ञान को छोड़कर बाह्यपदार्थों से आनन्द की आशा रखना, विष खाकर जीने की आशा रखने की तरह है। कदाचित् विष खाकर भी कोई जीवित रह जाये यह सम्भव है, किन्तु यह सम्भव नहीं है कि परपदार्थ में मोह करके शान्ति पा सकें।

ज्ञानप्रतापित उपयोग का प्रसाद—सविधि निर्वापित, मारित विष खाकर भी पुरुष जीवित रह सकता है। संखिया आदि विषों को आयुर्वेद की विधि से उसकी शक्ति का घात करके उस ही विष को दवा में परिवर्तित कर रोगियों को निरोग, करने में अथवा मरते हुए को बचाने में सहायक हो जाता है विष क्योंकि वहाँ उस विषैले पदार्थ में कुछ और ही विचित्र परिणमन हुआ है। ऐसे ही जिसे आत्मज्ञान मिला है, उस आत्मज्ञान के कारण इन विषयविषों का ऐसा मारण कर दिया जाता कि गृहस्थ अवस्था में इन विषयविषों को भोगता हुआ भी हित पथ से भ्रष्ट नहीं होता है। करना क्या है? अकेले हैं, अकेले ही सोचना है, अकेले से अकेले को निरखना है। समय पर सबका सब काम होता है। यह भीतरी पुरुषार्थ किसी भी जगह बैठकर अकेले कर सकते हैं। उसकी रोकने वाला स्त्री पुत्र मित्रज्ञन कोई नहीं है। हम चाहें तो अपने भीतरी मार्ग से चलकर अपने भीतरी ज्ञान-उपवन में कुछ देर विहार कर सकते हैं, इसको कोई रोकने वाला नहीं है। हम ही तो अपने आपमें रीते बनकर बाहर ही बाहर बाहरी पदार्थों में आसक्ति करके डोलते रह सकते हैं।

ज्ञानप्रतापित उपयोग का प्रसाद—भैया ! लौकिकी ये स्थितियां रमने योग्य नहीं हैं। तुम इन बाह्यपदार्थों में अपना उपयोगरूप सिर मारकर सुख की आशा रखते हो। अरे आशारूपी पिशाच का निग्रह होगा तो सुख हो सकता है। आशा और आनन्द—इन दोनों का परस्पर में विरोध है। जहाँ आनन्द है वहाँ आशा नहीं। जहाँ आनन्द है वहाँ आशा नहीं जग सकती। बहुत बड़ी बात इसे सोचता हो कोई कि यह तो साधुओं के करने की चीज है तो चलो यह भी ठीक है, पर जानना तो सबके लिए है ना। साधु करें, पर साधु क्या किया करते हैं जिससे वे आनन्दमग्न रहते हैं, इतनी बात जानने को रोकता कौन है? प्रत्येक को अधिकार है कि जो बात सत् है, जो जैसा है तैसा जान सकता है। बस यदि विशदरूप में जान लिया तो वही किसी न किसी अंश में करना भी कहलाने लगा। आशा पिशाच के निग्रह से ही आनन्द मिलता है। क्या तूने यह

नहीं जाना है, इसी कारण तू अल्प प्रयोजन के लिए परतत्वों के आधीन रहना चाहता है ।

विषयों में सुख की व्यर्थ मार्गणा—जैसे कि बालू की रेत में तेल निकालने की बात सोचने वाला विवेकी नहीं है ऐसे ही परपदार्थों में रमकर आनन्द की आशा रखने वाला भी विवेकी नहीं है । यह सुगम और सीधासा पथ है अपने आपके भीतर का चमत्कार निरखने का, किन्तु यह प्रथम ही आवश्यक है कि बाह्यपदार्थों को बाह्य जानकर, अहित भिन्न असार जानकर उन सबका विकल्प तोड़ दें । बहुत ही शीघ्र अपने आपके सहज आनन्द का अनुभव हो सकता है । यह झलक जिसने किसी भी समय पायी है उनके जीवन में फिर कठिन परिस्थितियों में भी क्लेश का अनुभव नहीं होता है । सम्भव प्रत्येक प्रयत्न करके हमें अपने आपमें किसी भी समय तो निर्विकल्प आनन्द का अनुभव कर लेना चाहिए ।

श्लोक (४३)

आशाहुताशनग्रस्तवस्तुच्छैर्वशजां जनाः ।

हा किलैत्य सुखच्छायां दुःखधर्मापनोदिनः ॥ ४३ ॥

आशावश व्यर्थ आशा—आशारूपी अग्नि से जला हुआ और नाना भव की वाञ्छावों से पीड़ित कोई पुरुष सुख के प्रयोजन से आताप का निवारण करने के लिए बांस की छाया को ग्रहण करता है, सो व्यर्थ ही है । जैसे कोई पुरुष गर्मी के दिनों में गर्मी से पीड़ित हुआ रगड़ से जलने की प्रकृति रखते हुए बांसों की छाया में बैठ जाये या छायारहित बांसों के पेड़ों के नीचे बैठ जाये तो उसका यह श्रम व्यर्थ है । उससे संताप न मिटेगा, बल्कि अग्नि से जल जाने का संदेह और वहाँ पर है । बांस के नीचे बैठने से बांस के नोक भी चुभ जायें, जो कीली की तरह पीड़ा दे सकते हैं । जैसे आताप से पीड़ित पुरुष बांस की छाया में बैठ जाये, ऐसे ही आशा की अग्नि से पीड़ित पुरुष इन पदार्थों की वाञ्छावों के प्रयत्न में ठहर जाये तो उसका यह उपाय व्यर्थ है ।

आशावश व्यर्थ क्लेश—इस जीव को केवल एक आशा का ही दुःख है । इतनी आशा तो पशु पक्षी भी नहीं कर पाते होंगे, जितनी आशा यह मनुष्य करता है । यह मनुष्य सैकड़ों वर्षों के सामान जोड़ता है । कल का तो पता नहीं कि क्या होगा, लेकिन सैकड़ों वर्षों आगे के लिए सामान जोड़ रहा है । पशु पक्षी कहां इतना संचय करने की प्रकृति बनाते हैं । उन्हें तो जहाँ भोजन मिल गया, कर लिया, कल के लिए वे कुछ उपाय नहीं बनाते, किन्तु यह मनुष्य प्रकृत्या यह चाहता है, चाहे वृद्धावस्था हो गयी हो, ऐसा भी नहीं है कि १० वर्ष भी और जिन्दा रह सके, लेकिन वैभव इतना होना चाहिए कि जिसके ब्याज से ही शान से गुजारा हो । है अकेला बुड़ा, फिर भी वह यही चाहता है कि मूलधन बचा रहे, ब्याज से ही गुजारा हो । कितने ही वर्ष आगे के निदान यह मनुष्य बांधा करता है । आशा ही एक ऐसी पिशाचिनी है कि जिसके कारण इसके सब आराम खराब हो जाते हैं । आशा की पीड़ा की वेदना हो और उस वेदना को मिटाने के लिए कंचन-कामिनियों की शरण गहें तो यह तो इस जीव का व्यर्थ का प्रयत्न है, उससे संताप मिटेगा नहीं, बल्कि बढ़ेगा

।

परमपदार्थ का वंशछायावत् संसारमाया में लुभाव—यह आत्मा एक ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र निर्लेप भावमात्र है। यह अपने जिस स्वरूप में है उस ही में ठहरे तो इसे किसी तरह का क्लेश नहीं है, किन्तु स्वरूप की तो सुध भी नहीं रखता, बाहरी पदार्थों में ही निरन्तर मग्न रहा करता है। यह संसारी जीव विवेकरहित होकर आशारूपी अग्नि से जलता हुआ उस जलन को मिटाने के लिए चेतन अचेतन परिग्रहों से सुख चाहता है, किन्तु ये सब साधन तो भव-भव में दुःख ही उत्पन्न करते हैं। इस असार संसार में सुख काहे का है? संसार की माया बांस की छाया के समान है। बांस देखने में बड़े लम्बे किन्तु उनके नीचे छाया नहीं होती और छुटपुट थोड़ी छाया भी मिले तो नीचे का वह स्थल कटीला होता है और बांस ही आपस में रगड़कर अग्नि उत्पन्न करते हैं और भस्म कर देते हैं। यह संसार की माया कहने मात्र को है। सार कुछ नहीं है इसमें, बांस की छाया की तरह असार है। यह ग्रहण करने योग्य नहीं है, किन्तु तजने योग्य है।

जिस भव्य आत्मा का यह संसार समाप्त होने को हो, जो निकट संसारी हो उस भव्य आत्मा के इस माया को तजने की दृष्टि उत्पन्न होती है। कितनी कठिन विपदा है अत्यन्त भिन्न पदार्थ है वैभव, किन्तु उसी ओर यह उपयोग आकर्षित हो रहा है। चेतन अचेतन परिग्रहों से अपना ही बड़प्पन माना है। बड़प्पन इसका खुद अपने स्वरूप के कारण है, उसे नहीं देखता है। आत्मा स्वयं धर्मस्वरूप है। ज्ञान और दर्शन सहज गुण ही आत्मा के धर्म है। इस धर्म का पालन विश्राम की प्रकृति से होगा। पढ़ना लिखना धर्म पालन का एक साधन है, पर यह नियम नहीं है कि पढ़ लिखकर धर्म का पालन निभ ही जाएगा। हाँ, यह इसका उपयुक्त साधन तो अवश्य ही है।

ज्ञानार्जन का कर्तव्य—कोई इस अक्षर-विद्या को न भी पढ़े लिखे, और हो मोहनीय कर्म का क्षयोपशम विशेष तो वह भी अपने इस सम्यक्त भाव का अनुभव कर सकता है, लेकिन किसी अंधे को कहीं मार्ग में ठोकर लग जाए और उस पथर को निकाल फैंके, वहां मिल जाये धन तो धन कमाने का कहीं यह उपाय तो नहीं बन जाता कि सब लोग आंखों में पट्टी बांधकर अन्धे बनकर पैर से किसी पथर में ठोकर लगाये और उसे खोदें तो धन मिल जाए तो इस प्रकार की बात तो नहीं है। धन प्राप्ति का उपाय तो व्यापार है, उद्यम है। ऐसे ही किन्हीं ऐसे पुरुषों को भी धर्म का आश्रय मिल जाता है, जो न भी पढ़े लिखे हैं, फिर भी पुरुषार्थ तो पढ़ने लिखने का करना ही चाहिए। अपने हित स्वरूप के दर्शन के लिए। मनुष्य में यदि क्षमा, नम्रता, सरलता, उदारता का माद्दा है तो उसे हित का पंथ सुगमतया प्राप्त हो जाता है।

सदाचार का कर्तव्य—ज्ञान के अनुभव के लिए चारित्र की भी जरूरत है। मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप हूँ, इस प्रकार का मैं उपयोग बनाये रहूँ, इस प्रकार की स्थिति पाने के लिए कुछ अन्तः आचरण भी तो करना चाहिए। कोई पुरुष व्यसनी हो, क्रोधी हो, अनेक मायाचारों से भरपूर हो तो उसे यह आत्मानुभूति की बात नहीं प्राप्त हो सकती है। निज विश्राम से जिसको जो कुछ मिल रहा है अपने आपमें, वही तो आत्मानुभव का पात्र हो सकता है। जिसकी परपदार्थों की ओर दृष्टि दौड़ गयी है, वह वहाँ कहां से विश्राम पाये और कहां से संतोष

पाये ? आशा का जाल हम न गूंथे—ऐसा उद्यम करना एक महान् तप है ।

ज्ञानी गृहस्थ का ज्ञानबल—वह गृहस्थ भी धन्य है कि सब कुछ करना पड़ रहा है तब भी आशा के जाल में फंसा हुआ नहीं रहता । कितनी विशिष्ट तैयारी है ज्ञानी गृहस्थ की? वह हर एक परिस्थिति से मुकाबला करने के लिए सदा तैयार रहता है । लक्ष्मी धन बहुत आये उसमें भी उसका मुकाबला करने के लिए तैयार है । उसका मुकाबला यही है कि उस वैभव के समागम में हर्ष न मानें । जो वैभव के समागम में हर्ष मानता है उसे अन्त में बड़ा कष्ट भोगना पड़ता है । किसी भी पदार्थ का संग पाकर खुशी माने तो समझ लीजिए कि उस पर बड़ा संकट आने वाला है । सुख के साथ दुःख लगा हुआ है ।

सुख दुःख में क्षोभ की समानता—सुख और दुःख दोनों एक से ही झूठे परिणमन है । धन्य हैं वे क्षण जिस क्षण मोह ममता न जगकर जो केवल एक अपने शुद्ध ज्ञायकस्वरूप का नाता मानकर अपने आपमें विश्राम कर सकता हो, उसका जीवन सफल है । स्वप्न में देखी बात जैसे स्वप्न में झूठी नहीं मालूम होती, ऐसे ही मोह में कल्पनाओं का होना ये सब बातें इस मोही जीव को झूठ नहीं मालूम होतीं! दूसरों से सम्मान चाहे, दूसरों में अपना यश बढ़ाप्पन चाहे यह सब स्वप्रवत् कल्पना जाल है, किन्तु रहा ही नहीं जाता इससे चुप, विश्रान्त ।

यश के चाह की व्यर्थ दाह—अरे इस दो चार कोशों की जगह में मेरा सम्मान न हो तो जैसे असंख्याते कोशों में भी तो मेरी पूछ करने वाला कोई नहीं है, इन दो चार कोशों के जगह में कोई यश अथवा सम्मान करने वाले न हुआ तो क्या हो गया खेद किस बात का मानते हो? अरे तू यश यदि सब जीवों में फैला सकता हो तो फैलाने की धुन कर । जीव तो अनन्त हैं उनमें से ये हजारों लाखों जीव क्या संख्या रखते हैं । जब सब जीवों में तेरा यश नहीं हो सकता तो इन कुछ जीवों में यश चाहने की कल्पना करके क्यों अपना जन्म निष्फल गवा रहे हो ? यदि दुनिया में सब जगह तेरा यश फैल सकता हो तो यश फैलाने की कोशिश कर । दुनिया की जगह तो अनगिनते कोशों प्रमाण है । सब जगह किसका यश फैल सकता है? गति ही नहीं वहाँ है । जब अनगिनते कोशों में यश नहीं फैल सकता तो १०-२० कोशों में अपना यश फैलाने की धुनि रखकर क्यों जीवन व्यर्थ गंवा रहे हो ? देखो यदि समस्त कालों में, समयों में तेरा यश रह सके तो अपने यश को स्थायी बनाने का यत्न कर, किन्तु अनगिनते समय की तो कथा क्या, १०-५ वर्ष भी किसी का यश टिकता नहीं है, पुराना पड़ जाता है, लोग भूल जाते हैं कोई-कोई कुछ जान पाता है । ऐसी विषम परिस्थिति में तू बाहर में कुछ निर्णय मत बना । अपने आपमें कुछ देख, निर्णय कर अपने आत्मा से अनुराग कर ।

आत्मा की प्रियतमता—अच्छा, बताओ सबसे अधिक प्रिय इस आत्मा को क्या है ? अपना ही आत्मा । छोटे बच्चे मां की गोद से प्यार करते हैं, उनको मां की गोद से बढ़कर कहीं कुछ प्रिय नहीं है, लेकिन जब ये तीन चार वर्ष के होते हैं तो फिर मां की गोद से प्रेम नहीं रहता है, फिर खेल खिलौनों से वे प्रेम रखने लगते हैं । मां जबरदस्ती उठाकर गोद में भी रखे तो वह उठकर भागना चाहता है, खेल खिलौना में रमता है । कुछ बड़ा होने पर खेल खिलौनों से भी प्यार नहीं रहता । स्कूल पुस्तकों से प्रेम होने लगता है, विद्यावों से

प्रेम होने लगता है। कुछ जानकारी विशेष हुई तो बड़ा हर्ष मानता है। कुछ और बड़ा हुआ तो विद्या का प्रेम भी नहीं रहा। परीक्षा में पास होने का प्रेम रहा। चाहे अक्षरज्ञान भी न हो, पास भर हो जायें, इतना भर प्रेम है। कुछ और बड़ा हुआ, डिग्रियां भी मिल गयी, अब उसे विवाह से स्त्री से प्रेम हो गया, और सबके प्रेम छूट गये। अब और बड़ा होने पर स्त्री भी प्रिय न रही, अब बच्चे प्रिय हो गये। कुछ और बड़ा होने पर धन से अनिष्ट प्रेम बढ़ने लगता है, स्त्री बच्चों की भी अब परवाह नहीं करता। और क्यों जी, कदाचित् घर में आग लग जाये तो जहाँ तक सम्भव है धन निकालेगा, लड़कों को निकालेगा। कदाचित् कोई लड़का जलती हुई तेज आग में फँस जाये तो वह और लोगों से कहेगा कि मेरे बच्चे को निकाल दो। हम तुम्हें २० हजार रुपये इनाम के देंगे। अब उसे न बच्चा प्यारा रहा, न धन प्यारा रहा। सबसे प्यारा अपना प्राण रहा। और कदाचित् वही पुरुष विरक्त होकर, ज्ञानी बनकर, साधु होकर आत्मध्यानी बने और उस समय कोई सिंह या बैरी इसकी जान लेने को आये तब इसे क्या प्यारा रहा? वह जान देना तो स्वीकार कर लेगा, किन्तु अपने ध्यान को छोड़ना, अपनी ज्ञानानुभूति का त्याग करना पसंद नहीं करता। जन्ममरण तो होते ही रहते हैं। कितने ही बार जन्म-मरण हुए, पर एक शुद्ध ज्ञानस्वरूप में उपयोग को बसा लेना, मग्न कर लेना यह नहीं हुआ। यही है सबसे अधिक दुर्लभ वैभव। वह अपने आत्मा की रक्षा करता है, शरीर की रक्षा नहीं चाहता है। तो अन्त में यही तो सिद्ध हुआ कि सबसे अधिक प्रिय है अपने आपका आत्मा।

आत्मा की संभाल का मुख्य कर्तव्य—भैया! अपने आत्मा की दया करें। आशा से, कषायों से, मोहजालों से आत्मा को परेशान करने में बरबादी ही है और पापकर्मों का बन्ध होता है। यहाँ के मरे न जाने कहाँ गये? फिर यहाँ के लोग क्या बात पूछेंगे? कुछ वर्षों के जीवन में मोह ममता करके अपना भविष्य बिगाड़ लेना यह बुद्धिमानी नहीं है, और फिर सर्वप्रथम तो यही बात है कि हम आप दूसरों की चिन्ता कर करके क्लेश और संक्लेश भोगते हैं, कर्मों का बंध करते हैं। एक अपने को संभाल लें तो सब संभल जाता है, एक अपने को न संभालें और बाहर में अनेक पदार्थों को संभालने का यत्न करें तो कुछ नहीं संभालता। यह तो खुद संभाला हुआ नहीं है, दूसरे पदार्थ को संभालने का इस जीव को अधिकार नहीं है। यों यह परबुद्धि वाला जीव दोनों ओर से गया।

खुद की संभाल बिना स्वपर के संभाल की असंभवता—जैसे कोई पुरुष यह चाहता है कि मैं समाज को धर्मात्मा बना दूँ। समाज में मानों १०० व्यक्ति हैं और १०० के १०० यही चाहते हैं कि मैं समाज को धर्मात्मा बना दूँ। खुद को कोई भी धर्मात्मा बनाने का यत्न नहीं कर रहा तो यों सबके सोचने पर भी क्या कोई धर्मात्मा बन सकेगा? यदि उनमें से १० मनुष्य भी यह सोच लें कि मुझे अपने कल्याण के लिए धर्मात्मा बनना है तो चलो १० तो धर्मात्मा बने। खुद की संभाल बिना न खुद की संभाल है और न पर की संभाल है। अपने आपको सत्य श्रद्धान् ज्ञान और सदाचार से संभालना चाहिए। यहाँ कोई किसी का साथी नहीं है। खुद की निर्मलता हो तो खुद का खुद शरण हो जायेगा, पर दूसरा कोई शरण न होगा। किसी से कह कर

भी देख लो जो आपका प्रिय हो । भाई ! हम इतने पाप करते हैं, हमारे आधे पाप तो बांट लोगे ना? मैं इन पापों को बांट लूँगा—इतना कहना भी कोई पसंद न करेगा । शरण सहाई होना तो बहुत दूर की बात है ।

परसहयोग भी स्वर्धर्म का प्रसाद—भैया ! खुद में धर्म है, खुद में पुण्य है तो ऐसा ही सहज योग मिलेगा कि अनेक साथी बनेंगे । खुद के अर्धर्म है, खुद के पाप का जमाव है तो इसको पूछने वाला कोई न होगा । इस कारण अपने आपको सुखी करने के लिए शुद्धज्ञान सत्य श्रद्धान् सत्य आचरण करें, अपने पर विश्वास रखें । जब हम स्वयं ज्ञानमय हैं तो स्वयं सब कुछ निर्णय भी कर सकते हैं, पर होना चाहिए निष्पक्षभाव । दुःखरूपी घाम से पीड़ित पुरुष, आशा की अग्नि से जला हुआ पुरुष बांस की छाया की तरह संसार की माया की शरण में न बैठे, वहाँ संतोष न होगा किन्तु निजस्वरूप कल्पवृक्ष की शरण में आये तो इसे शान्ति होगी, धर्म होगा और इसका भविष्य भी सुखमय होगा ।

श्लोक (४४)

खातेऽभ्यासजलाशयाऽजनि शिला प्रारब्धनिर्वाहिणा ।
भूयोऽभेदि रसातलावधि ततः कृष्णात् सुतुच्छं किल ॥
क्षारं वार्युदगात्तदप्युग्रहतं पूति कृमिश्रेणिभिः ।
शुष्कं तच्च पिपासतोऽस्य सहसा कष्टं विधेश्चेष्टितम् ॥ ४४ ॥

तृष्णा की अचिकित्स्यता—संसार के प्राणियों में तृष्णा का बढ़ता हुआ रोग पड़ा हुआ है, जिससे अनेक यत्र करने पर भी तृष्णा की पिपासा शांत नहीं होती है । किसी पुरुष को प्यास लग रही हो और वह प्यास बुझाने के ख्याल से कुवां खोदना प्रारम्भ करे तो पहिले तो यह बताओ कि प्यास तो लगी है और कुवां खोदने में जुट पड़ा है तो कहाँ तक सफलता मिलेगी ? मान लो कुवे को थोड़ा खोदा भी और बीच में निकला कोई जबरदस्त बड़ा पत्थर तो अब और बड़ी कठिनता हो गयी । ये जनाब प्यासे हीं बैठे हैं । शिला भी बहुत परिश्रम से खोदकर फेंक दी और बहुत खोद देने के बाद रही मुश्किल से निकला थोड़ा सा पानी, किन्तु वह पानी भी मिला खारा और इतना ही नहीं उसमें कीड़े भी बिलबिलाते हों और फिर भी खोदते-खोदते ही थोड़ी देर में वह पानी भी सूख जाये, जैसे इस प्रसंग में इस प्यासे की विडम्बना है, इसी प्रकार समझिये संसार के तृष्णावी पिपासु धनलिप्सु पुरुष की गति भी होती है । किसी भी ओर की यह सारी बात निरख कर परख लो ।

धन की तृष्णा का फल रिक्तता—कोई धन वैभव का पिपासु है, बहुत सा वैभव संचित करना चाहता है तो वह इसके लिये बड़ा श्रम करता है, बड़े आरम्भ व्यापार धंधों को जोड़ता है । कितने कर्तव्य करने पड़ते हैं, उसी में आ जाते हैं, अनेक रोड़े और विघ्न । उन विघ्नों को किसी भी प्रकार दूर किया जावे? और-और भी बड़े कठिन श्रम किये जायें, फिर दिखता हो ऐसा कि इसमें कुछ अब आय होने वाली है । उस आती हुई आय में भी कुछ विघ्न हो, कुछ लोग उल्टे लग गए, खा पी लें, विघ्न बाधाएं आए तो लो जीवन भर तो

लिप्सा में श्रम किया और अन्त में फल शून्य रहा, तृष्णावी पुरुष का अन्तिम फल जीरो रहता है । प्रत्येक प्रकार की दशा में इसे देखते ही जाइयेगा ।

यश की तृष्णा में श्रम—कोई पुरुष संतान का अभिलाषी है, उस संतान के होने में, पालने में कितना कष्ट सहना होता है बच्चों का खर्च भी जवान के खर्च से कम नहीं होता है । अनेक कष्ट सहकर बहुत परिवार इकट्ठा किया । अब उनमें से निकल आया कोई उद्दण्ड, आज्ञा न मानने वाला, कोई निकल आया सताने वाला अथवा वह संतान कैसा ही हो, यह बुड़ा अपनी कल्पना से दुःख ही सोचता हो तो अब उस लिप्सा के फल में जीरो ही रहा, आत्मसंतोष तो कुछ नहीं हो सका ।

यश की तृष्णा—मान लो किसी को यश की चाह लग गयी तो यश पैदा करने के लिए कितने श्रम करने पड़ते हैं? अनेक लोग तो मायाचार करके मन में कुछ है, वचन से कुछ कहते हैं कि जिससे लोगों को अपने आपकी सञ्जनता दिखती है । किसी भी प्रकार छल से, श्रम से लोगों को मनाकर और अपने गोष्ठी के मित्रों के हाथ पैर जोड़कर ललोचप्पो करके किसी तरह थोड़ासा यश सम्पादित कर लें तो अब तृष्णा में यश को बढ़ाने के लिए लालायित रहते हैं । इतने लोगों में हमारी मान्यता हो, ऐसे यशवृद्धि के लिये अब नाना यत्न किए जा रहे हैं । अपने आपके आत्मा की सुधि भूलकर इस मायामय बाह्यजगत् को प्रसन्न करने की चेष्टाएं की जा रही है ।

यशविरोधियों के मुकाबिले का क्लेश—इस यश के बीच अनेक बाधाएं आती है, अनेक लोग मुकाबले में आते हैं, क्योंकि यश के प्रायः संसार में सभी लोभी है । किसी के बढ़ते हुए यश को देखकर प्रसन्न हो सकने वाले बिरले ही पुरुष होते हैं, अन्यथा तो सबकी यही इच्छा होती है कि मैं इससे अधिक यशस्वी होऊं । तब अपना यश बढ़ाने के लिए दूसरे के यश की जड़ काटने का यत्न करते हैं । यों अनेक पार्टियां बनती है, उनका मुकाबला होता है । यह कष्टमय संग्राम किसलिए रचा गया? एक यश पाने के लिए । अरे! यश क्या कोई हाथ में धरकर दिखाई दे जाने वाली चीज है? अरे! जो गर्पें है, केवल बातें हैं, उनका ही नाम यश है । लोगों ने थोड़े प्रशंसा के शब्द बोल दिए, इसको लोग यश मानते हैं । इस यश की होड़ में कितनी बाधाएं आती हैं, उनका मुकाबला करते हैं ये मोही जीव ।

यश में मलिनता की प्रसिद्धि—यश की धुन में मुकाबला करके कोई कुछ सफल हो गया तो यश से अपयश बहुत भरा रहता है । कवि ने बताया है कि ‘यह चन्द्रमा यदि पूरा काला होता तो इसकी दुनिया में निन्दा न होती, इसे कोई कलंकी न कहता, पर चन्द्रमा है तो पूरा चमकता हुआ और उसमें थोड़े से काले धब्बे हैं ।’ इसलिए उसे कवि लोग कलंकी कहते हैं । अरे पूरा ही काला हो जाता तो भला था । कोई कलंकी तो न कहता । कलंक तो वहाँ ही उत्पन्न हो जाता है, जहाँ बहुतसी स्वच्छता हो और सफेद कपड़े पर स्याही का धब्बा लग जाए तो उसकी आलोचना होती है । देखो क्या धब्बा लगा है और यदि काला ही सारा कपड़ा हो तो कौन आलोचना करे? जहाँ यश बढ़ता है, वहाँ अपयश भी साथ लगा हुआ है । लोग यश की घुड़दौड़ में आगे बढ़ना चाह रहे हैं । यश की तृष्णा से अन्त में मिलेगा क्या? जीरो ।

लोगों में प्रायः कृतप्रता की प्रकृति—अच्छा भैया ! निरखते जाइये किसी के भी जीवन को । कोई परम उपकारी मनुष्य हो तो उसने जनता के उपकार के लिए अपना तन मन धन सब कुछ अर्पित कर दिया, पर इन सब फालतू ठलवा लोगों को जीभ चलाने में क्या लगता है? थोड़ा उनके विरुद्ध ही तो जरा कहना है । जिस किसी पुरुष को जिसको आप लोक में सर्वप्रिय मानते हों, उसका भी नाम लेकर जरा १०० आदमियों में चर्चा तो करो । कुछ उनके विरुद्ध भी अपना भाव बताने वाले मिलेंगे या नहीं । देशसेवा में प्रसिद्ध गांधीजी के गुण बखानने लगें, कोई १००-५० आदमियों के बीच में तो कोई उनकी बुराई करने वाला भी मिल जाएगा । नेहरू की बात कहो तो उनकी बुराई करने वाले मिल जायेंगे । धार्मिक नेताओं में किसी की बात भी कहो, उसकी बुराई करने वाले मिलेंगे । कोई भी ऐसा सर्वप्रिय ऐसा नहीं है जो केवल यश-यश का ही गढ़ा हुआ हो, जिसका यश दुनिया भर में फैला हुआ हो ।

यश की तृष्णा का फल रिक्तता—यश के इच्छुकों ! अपने यश के संभाल की चिंता में क्लेश भी भोगना होता है । यश बढ़ा लेने में जीवन में जहाँ पचासों काम किए, उनमें ४५ में सफल हो गये, ५ में असफल हुए तो फालतू लोगों के चित्त में वे ४५ गुण घर नहीं करते हैं, किन्तु वे ५ अवगुण उनकी गोष्ठियों में प्रसिद्ध हो जाते हैं । लो सारा जीवन तो जनता के उपकार में और योग्य कामों में लगाया तथा अन्त में मिला अपयश । यश की तृष्णा में भी जीरो ही रहा अथवा मान लो यश ही रहा । प्रायः करके तो मरने पर यहाँ का यश परम्बव में कुछ सहाय होगा क्या ? वहाँ तो जैसा अन्तरंग में परिणाम किया है, उस परिणाम के अनुसार ही फल पाना होगा । किसी भी चीज की तृष्णा करके सिद्धि नहीं पायी जा सकती है । किसी भी विषय में तृष्णा की बात ले लो, सबके लिए यह दृष्टान्त अच्छी प्रकार घटित है, विषयों की तृष्णा में भी घटित कर लो ।

परिजन की तृष्णा का फल रिक्तता—यह मनुष्य विषयतृष्णा से विवाह करता है । घर भरते, बड़े होते, अनेक समस्याएं सुलझाते व इस तृष्णा के ही फल में अपनी सारी उमर व्यर्थ गंवा देते और बिल्कुल बूढ़े हो जायें, तब पता लगता है कि हमें फल जीरो मिला है, कुछ भी तो हाथ नहीं लगाता है । सभी अन्त में जीरो ही फल अनुभव करेंगे । प्यासा मनुष्य यदि कुबां खोदे, उसमें भी शिला निकले और शिला को भी किसी तरह तोड़कर निकाल दे और अधिक खोदने पर थोड़ासा पानी निकले, मगर वह भी खारा और कीड़ों से भरा, वह भी कुछ देर तक दिखाई पड़ा, फिर जल्दी ही सूख गया । उसे क्या मिला ? ऐसे ही ये संसार के विषय, समागम वैभव ऋद्धियां सिद्धियां हैं । कदाचित् ये थोड़ी देर को मिल गये हैं तो भी उनके साथ क्लेश ही बसे हुए हैं । उनसे भी क्या मिला, कौनसी सिद्धि हो गयी ? लेकिन यह मोही जगत् और मोही मानव अपने आपका कुछ उद्देश्य न रखकर बाह्य विषयों के लिए इतनी दौड़ लगा रहा है । धन्य हैं वे क्षण, जिस क्षण यह जीव अपने आत्मा के निकट बसने का बैठने का उत्साह बनाता है और यह दृढ़ विश्वास होता है कि ओह ! आनन्द और सर्वसमृद्धियां तो अपने आपके स्वरूप के निकट बसे रहने में है । बाह्यपरिकर में, बाह्यसाधनों में बाह्यवस्तुओं में हम जितना रहें, बसें, उतने ही उनमें हम व्यग्र होंगे, आकुल व्याकुल होंगे ।

पौराणिक घटनाओं से तृष्णा की विफलता की सिद्धि—विधि की चेष्टा प्रबल है? किसी पुराण पुरुष की भी कथा देख लो, क्या किया था जिन्दगी भर? कौरव पांडव बड़े लाइ प्यार से पाले गए। बड़े हुए, राज्य के लिए लड़ाइयां हुईं। कृष्ण जी बीच में पड़े। क्या कौरवों की ओर जायें, क्या पांडवों की ओर आयें, क्या फैसला हुआ अधिक राज्य और सेना कौरवों को दिया, श्रीकृष्ण पांडवों की ओर आये। क्या-क्या नटखट हुए? अर्जुन ने यह सोचकर हथियार डाल दिये। कि मैं अपने बान्धवों को, नाते रिश्तेदारों को कैसे मार डालूँ? कृष्ण उन्हें समझाने लगे, न जाने क्या-क्या खटपट हुए और युद्ध के अंत में फिर मिला क्या? जीरो। न कौरवों का कुछ रहा, न पांडवों का कुछ रहा। जीते पांडव। सो विजय के बाद उन्हें हो गया वैराग्य। वे पांचों पाण्डव सब कुछ छोड़कर चल दिये।

तृष्णा से हुए विवाद में बरबादी—भैया! यहाँ भी तो सब नटखट देखते हो। सुना है ऐसा कि कलकत्ता में किसी न्यायालय के द्वार पर दो आदमियों के फोटो हैं। एक के हाथ में कोरा कागज है और दूसरा भी रोता बिलखता है। दुखिया दरिद्र भेष में है। हुआ क्या कि किसी बड़े सेठ के दो लड़के थे। अपार धन था। बँटवारा हुआ। तो बटवारे में जब झगड़ा होता है तो छोटी चीज पर होता है। बड़ी चीज पर लड़ाई का कोई सवाल ही नहीं पैदा होता है। दो लाख है तो एक-एक लाख बांट लिया। चार लाख है तो दो-दो लाख बांट लिये। बड़ी चीज पर लड़ाई नहीं होती, लड़ाई तो छोटी सी चीज पर हो जाती है। तो उन दोनों में बांटते-बांटते अंत में एक चबूतरे के कोने पर विवाद हो गया। चार अंगुल जमीन के पीछे झगड़ा हो गया, मुकदमा शुरू हो गया, कचेहरी चलने लगी। दोनों की सारी जायदाद बरबाद हो गयी। अन्त में दोनों के पास कुछ भी न रहा और एक को एक विजयपत्र मिल गया। मिल गया एक कागज और तो कुछ रहा नहीं, क्योंकि दोनों का सब खर्च हो गया। क्या मिला तृष्णा में आकर? शून्य। जिसे यहाँ बहुत कुछ मिला हो वह भी अन्त में रोता ही रहता है। इस लोक में किसी भी बात पर अहंकार करना व्यर्थ है। कौनसी श्रेष्ठ वस्तु मिली है? किस पर इतराते हो? कल का तो पता नहीं, क्या होगा, कल यह समागम रहेगा या न रहेगा, हम भी रहेंगे कि न रहेंगे, इसका कुछ पता नहीं, पर यहाँ शेखचिलीपन कितने किए जा रहे हैं?

तृष्णा में शेखचिलीपन—एक मूँछमक्खन नाम का आदमी था। वह दरिद्र था। वह यहाँ वहाँ से भीख मांग लाये और उसे खा पीकर अपना पेट भरे। एक बार श्रावक के यहाँ उसने मट्टा पिया तो उसके मूँछों पर मक्खन लग गया। मूँछ पर हाथ फेरा तो निकला मक्खन। सोचा कि रोज इसी तरह दसों बार श्रावकों के यहाँ मट्टा पियें और मूँछ पर हाथ फेरकर मक्खन निकालें तो कुछ ही महीनों में काफी धी इकट्ठा हो जायेगा। किया भी उसने ऐसा ही। दो वर्ष में ही उसने तीन चार सेर मक्खन जोड़ लिया। उससे धी बना लिया। जाड़े के दिन थे। झोपड़ी में रहता था, एक छींके पर डब्बा लटका था, नीचे आग जल रही थी, आग के किनारे पड़ा हुआ वह मंसूबे बना रहा था। कल दिन में बाजार जाऊँगा, धी बेचूंगा तो दस रुपये तक आ जायेंगे। दस रुपये का खोंचा लगाऊँगा चालीस, पचास रुपये हो जायेंगे तो एक बकरी खरीदूंगा, फिर गाय भैस खरीदूंगा, बैल खरीदूंगा। फिर जायदाद खरीदूंगा, फिर मकान बनवाऊँगा, शादी कर लूँगा,

बचे होंगे । एक बचा बुलाने आयेगा—चलो दद्दा मां ने रोटी खाने को बुलाया है, ऐसा कहेगा तो मैं मना कर दूँगा । दूसरी बार बुलाने आयेगा तो मैं कह दूँगा कि चल हट अभी मैं नहीं जाता । तीसरी बार बुलाने आयेगा तो यों लात मारकर कहूँगा—चल हट, अभी मैं न खाऊँगा । इतने में उसकी लात छींके पर लगी । धी का डब्बा गिर गया आग पर और सारा धी जल गया, झोपड़ी जलने लगी ।

कल्पना का क्लेश—अब वह मूँछमक्खन बाहर निकलकर चिलाता है—दौड़ो रे भाइयों ! मेरा घर जल गया, मेरी स्त्री बचे जल गये, मेरे जानवर जल गये, मेरी सारी जायदाद जल गयी । लोग सुनकर आश्र्वय में । पड़ गये । सोचा कि अभी कल तक तो यह भीख मांगता था और आज इस तरह से कहता है । तो एक सेठ जी पास आकर बोले—अरे कहां कौन जला जा रहा है? क्यों रोता है? कल्पना से ही तो उसने सारी बात बतायी । सेठ जी ने कहा कि कुछ मिटा तो नहीं, केवल तू कल्पनाएँ ही तो कर रहा था । तो दूसरा कोई समझदार व्यक्ति सेठ जी से कहने लगा—अरे तुम्हारे पास भी क्या है, कुछ भी तो तुम्हारा नहीं है, केवल कल्पना ही तो बनाए हो कि यह मेरा है, मेरे पास इतना यह है । अरे इसमें भी तो तुम कल्पना ही बना रहे हो ।

तृष्णा में सुख की असिद्धि—भैया ! हैं सभी पदार्थ तुमसे अत्यन्त जुड़े, पर तुम उन्हें कल्पना से ही तो अपना मान रहे हो । इन पदार्थों की तृष्णा करके कोई संतोष नहीं पा सकता है, न तृष्णा किसी की पूर्ण हो सकती है । तृष्णावान् पुरुष तृष्णा कर करके ही मरेगा, संतुष्ट होकर न मरेगा । इससे दैवयोग से जो कुछ भी प्राप्त हो उसही में बँटवारा और गुजारा करना और सुगम स्वाधीन जो अपना धर्म है उस धर्म के पालन की दृष्टि रखना, बस यही निर्णय है, इसके खिलाफ चले तो जीवन सुखमय न रह सकेगा ।

श्लोक (४५)

शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते सतामपि न संपदः ।

नहि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः ॥ ४५ ॥

शुद्ध धन से संपदा का अभाव—जिसे अपना हित चाहना हो उस गृहस्थ को मन में यह कल्पना न रखना चाहिए कि मैं सम्पदा को बहुत कमाऊँ और बढ़ाऊँ । ये लौकिक वैभव अर्जित पुण्य के अनुसार उपलब्ध होते हैं पहिली बात तो यह है । दूसरी बात यह है कि सम्पदा अधिक होने से सुख अथवा शान्ति हो जाये, ऐसा नियम नहीं है । तीसरी बात यह है कि कोई सम्पदा को बढ़ाने का मन में भाव रखें, अपने जीवन का एक यही लक्ष्य रखें तो उसकी प्रवृत्ति, न्यायरूप न रहकर अन्यायरूप बनेगी । इसका कारण यह है कि न्याय के आचरण कर उपार्जित जो धन है उससे बड़ों-बड़ों के भी सम्पदा नहीं बढ़ती है । क्या कभी स्वच्छ जल से समुद्र भी पूर्ण होता हुआ किसी ने देखा या सुना है? समुद्र में कितने जल का ढेर रहता है? यह जल का ढेर गन्दे जलों से भरी हुई नदियों से आया है । निर्मल जल की ही नदियों से समुद्र कभी नहीं भरता । ऐसे ही जो जान बूझकर, जीवन का लक्ष्य बनाकर धन का संचय किया जाता है वह न्यायपूर्वक धन

से संचय नहीं हो सकता ।

संपदावृद्धि की धन में अन्याय का आलम्बन—उक्त कथन का यह भी मतलब नहीं है कि जिनके धन बढ़ता है वे सब अन्याय से धन बढ़ा पाये हैं, किन्तु जो अपने जीवन का लक्ष्य धन को बढ़ाना ही रखते हैं उनसे न्याय की प्रवृत्ति न होगी । वे अन्याय की प्रवृत्ति करके धन का संचय करेंगे । अयोग्य आचरण तो सर्वथा त्याज्य ही है । योग्य आचरण करके उपार्जित किया हुआ जो धन है उस धन से सम्पदा की विशेष वृद्धि नहीं होती है । इस कारण धन की तृष्णा को तजकर अपने जीवन को धर्ममय और निष्परिग्रहता के सांचे में डालना चाहिए । पूर्वकाल में चक्रवर्ती, तीर्थकर, सम्राट, मंडलेश्वर और भी बड़े-बड़े धर्मात्मा सेठ लोग हुए हैं । वे अन्याय से धन पैदा करके हुए हैं ऐसी बात न समझना, उयानुसार स्वयमेव प्राप्त होता है । कल्पना करो, किसी बालक को किसीने गोद ले लिया तो गोद लेते ही वह लखपति हो गया, उसने क्या अन्याय किया जो इतना धनी से गया । अथवा किसी धनिक के यहाँ कोई बालक पैदा हुआ, उसने क्या अन्याय किया जो धनिक हुआ? लेकिन जो मन में यह तृष्णा रखते हैं, आकांक्षा रखते हैं कि मैं बड़ा धनिक बनूँ और सारे जगत् में अपना नाम प्रसिद्धि कर दूँ? मेरा यश बढ़े, ऐसा परिणाम कोई रखता है तो वह अन्याय से धन कमायेगा । जिस किसी भी प्रकार हो, अपना घर भरेगा ।

अन्यायार्जित धन के सदुपयोग का अभाव—अन्याय से उपार्जित धन से कभी शांति नहीं हो सकती और वैसे भी देखा होगा जो अन्याय से धन कमाता है उसका द्रव्य योग्य कार्यों में खर्च नहीं हो पाता है और जब धन नहीं रहना है तो व्यसनों के और पापों के अनेक रास्तों से धन निकल जाता है । लोग यह कहते हैं कि अन्याय की कमाई का पैसा योग्य सुकृत में और धर्म में नहीं लगता । उसका मर्म यह है कि जिस पुरुष ने अन्याय का परिणाम बढ़ाकर धन कमाया है, उस पुरुष में धार्मिक जगत् में दान देने का परिणम ही नहीं हो सकता है । न्यायवृत्ति रखने वाले पुरुष के ही ऐसा परिणाम होगा कि मैं योग्य काय में दान भी दूँ ।

अन्याय से उपार्जित धन ठहरता भी नहीं है । नीतिशास्त्र में कहा है कि अन्याय से उपार्जित धन तीन वर्ष में, तीन माह में या अधिक से अधिक १२ वर्ष तक रहता है, अधिक काल नहीं रहता है । फिर यह भी परखिये कि धन भी बहुत बढ़ गया तो इससे आत्मा में उन्नति कौनसी हो गयी? शुद्ध आनन्द और शांति हो, उसे उन्नति कहते हैं ।

आंखों देखते धन का अनुपयोग—अन्याय से उपार्जकों के योग भी ऐसा लग जाता है कि उस अर्जित धन का दान करना चाहते हुए भी लोग दान में नहीं लगा पाते । एक सेठ था । उन्होंने अलाप-अनाप तड़ाक-फड़ाक काफी धन कमा लिया । वे ५ लाख की सम्पत्ति के धनी हो गये । उनके चार बेटे थे । उनमें आपस में बड़ी कलह मची रहती थी । सब न्यारे-न्यारे भी हो गये । एक-एक लाख रुपया बांट भी लिया । उस सेठ ने एक लाख का धन सोना चांदी रक्कों के रूप में भीत में गाढ़कर रक्खा । पहिले जमाने में भीत व जमीन एक सुरक्षित तिजोरी मानी जाती थी ।

सेठ बीमार हो गया । मुँह बोल बन्द हो गया, किन्तु कानों से सुनाई दे रहा था । अन्तिम दिन थे, अभी

समझ बराबर चल रही थी । पंच लोग जुड़े । पंचों ने कहा कि सेठ जो अब तो तुम्हारा अन्तिम समय है, कुछ दान पुण्य कर जावो । सेठ के मन में आया कि जितना धन बचा है, उतना सब पंचों को सौंप दूँ । ये किसी अच्छे काम में लगा देंगे । सेठजी का बोल तो बन्द था ही, सेठजी हाथ के इशारे से कहते हैं कि जो कुछ इस भीत में रखा है यह सब तुम्हें दिया? तुम जहाँ चाहो लगाओ । पंच लोग इशारे का कुछ भी मतलब न समझ सके । उन्होंने बेटों से पूछा कि तुम्हारे पिताजी क्या कह रहे हैं लड़के तो सब जानते ही थे, वे बोले कि पिताजी कह रहे हैं कि हमारे पास जो कुछ था वह इस भीत में लगा दिया, अब कुछ भी पास नहीं रहा । यह सुनकर सेठ मन ही मन कुड़ता जाए, पर कुछ बोल न सके । वह सेठ मन में कुड़ता है कि हम तो चाहते हैं कि दान करें, पर ये लड़के जानबूझ कर कितना कपट करके उलटा अर्थ बता रहे हैं ।

दुर्लभ मानवजन्म के सदृपयोग का अनुरोध—मैया ! मुख्य बात यह है कि यह मनुष्यजन्म बड़ी दुर्लभता से मिला है । सीधा ही अन्तर देख लो कि कीड़े मकौड़े, पशु पक्षी सब टें टें चें चें करते हैं । ये न शरीर की सजावट कर सकते हैं, न अपने रहने को मकान महल तैयार कर सकते हैं, न दिल की बात किसी दूसरे को बता सकते हैं, न दूसरे की बात समझ सकते हैं । किन्तु मनुष्यभव देखो कि कितना विकसित भव है ? कितना विधियों से खाना खाना, कैसे ढंग से खाना, मन की बात दूसरों को बताना, दूसरे की बात खुद समझना, बड़े-बड़े साहित्य लिखना, उपदेश करना, मोक्ष मार्ग पर चलना—ये सब बातें मनुष्यों में सम्भव हैं । कितने विशिष्ट साधन हैं इन मनुष्यों को । मनुष्यजीवन मिला है तो इसका लक्ष्य ऐसा बनावो कि जो अब भी शांति दे और भविष्य काल में भी हम सबको शांति मिले । यह सब उपाय है सम्यग्ज्ञान का ।

ज्ञानबल का प्रबल साहाय्य—एक यथार्थ ज्ञान बर्त रहा हो, फिर चाहे कहाँ कुछ भीत रही हो, इसको क्लेश नहीं हो सकता । ज्ञान यथार्थ नहीं है तो अनुकूल बात मिले वहाँ भी क्लेश और प्रतिकूल बात मिले तो वहाँ भी क्लेश । इस कारण परिग्रह की वांछा श्रद्धा चित्त में न करें । इतनी हिम्मत यदि बन सकती है तो धर्मपालन का दम भरिये । जैसे गृहस्थों में इतना साहस हो कि जो भी स्थिति आये, हम किसी स्थिति से घबड़ायेंगे नहीं । कठिन से कठिन परिस्थितियों से या आर्थिक स्थिति कम होने से न घबड़ायेंगे । जिसके यथार्थज्ञान नहीं है, वही कठिन स्थितियों से घबड़ाता है । सम्यग्ज्ञानी गृहस्थ गरीबी में यों नहीं घबड़ाता कि जैसे भी स्थिति हो, उसके माफिक अपनी चर्या बना लेगा । जितनी आयु हो उसके माफिक अपना बजट बनाने में क्लेश नहीं है किन्तु अपनी कल्पनाओं में शौक शान के बढ़ावे सहित बजट तो बढ़ा लें और आय न हो तो उसे रात दिन क्लेश रहता है । शुद्ध विधि से धन कमा कर सम्पदा नहीं बढ़ती है । इसलिए यह सम्पूर्ण धन हमारे लिए अहितकर है—ऐसा जानकर इस ग्रन्थ में साधु जनों के लिए कहा जा रहा है कि या तो निष्परिग्रही हो या जो साधुता ग्रहण करने के पात्र है, उन्हें कहा जा रहा है कि तुम निष्परिग्रही बनो ।

परिग्रह की क्लेशहेतुता—परिग्रह चिन्ता और शल्य का कारण होता है । परिग्रह के कारण ही नाना क्लेश सहने पड़ते हैं । एक राजा को वन में जाते हुए नग्न दिगम्बर साधु मिले । उन्हें देखकर राजा को दया आयी । देखा कि बदन पर कपड़े भी नहीं हैं? नंगे पैर हैं, सिर पर बड़ी तेज धूप पड़ रही है, बड़ी तकलीफ है ।

राजा ने कहा कि महाराज तुम क्यों तकलीफ को सहन कर रहे हो? हम तुम्हें जूते बनवा दें। आपके पैरों की तो जलन बच ही जायेगी। साधु ने कहा कि अच्छा बनवा दो, पर जूता तो पहिन लेंगे, फिर सिर का क्या हाल होगा? तो राजा बोला कि महाराज! एक छतरी भी दिला देंगे।.....और जो शरीर में लूँ लगती है, उसके लिये क्या होगा? महाराज! रेशम के कपड़े बनवा देंगे.....। फिर तो हम से पैदल भी न चला जा सकेगा...। तो महाराज! एक मोटरकार दे देंगे.....। फिर आहार की क्या विधि होगी तिष्ठ-तिष्ठ कौन कहेगा? तो महाराज! शादी करवा देंगे। बहू आ जाएगी तो वह रोटी बनाकर खिलायेगी.....। तब तो और खर्च बढ़ेगा महाराज! ५ गांव और लगा देंगे.....। बचे होंगे, उनके शादी विवाह में खर्च होगा.....। तो महाराज! दस गांव और लगा देंगे.....। और उनमें कोई मर जाएगा तो रोना भी पड़ेगा.....। महाराज ओर तो सब कर सकते हैं, पर रोना तो उसे ही पड़ेगा जो उन सबसे ममता करेगा.....। तो हमें ऐसे जूते नहीं चाहिये, जिन जूतों से रोने तक की नौबत आ जाए।

धर्मपालन का साहसी—भैया! ! धर्मपालन की हिम्मत वही कर सकता है जो मूल से परिचित हो व सब मनुष्यों को अपरिचित समझता हो। दृश्यमान् से ये सब अपरिचित हैं। ये जीव सब चैतन्यस्वरूप हैं। ये जो भी रूप धारण करते हैं वे सब मायारूप हैं, सब नाटक खेल रहे हैं। जैसे नाटक में लड़का तो किसी धनी सेठ का है, पर कभी भिखारी का रूप बनाता है, कभी राजा का रूप बनाता है। इसी प्रकार हम आप कभी मनुष्यभव में आते हैं, कभी तिर्यच, नारकी, देव आदि गतियों में आते हैं। तो नाटक में जो सेठ का लड़का भिखारी बनकर आया। उसे जो जानते हैं कि यह अमुक सेठजी का लड़का है, उन्हें उसको देखकर रंज नहीं होता है, क्योंकि उनके मन में यह विश्वास है कि यह दुःखी नहीं है, यह तो धनी का लड़का है, नाटक खेल रहा है और जिसको यह पता नहीं है, इस ओर जो दृष्टि नहीं रखता कि यह तो बड़े सेठ का लड़का है, नाटक खेल रहा है। यह तो ध्यान में न हो और जो रूप रखकर उस नाट्य मंच पर आया हो, उसी रूप से उसे देखें तो उसके दुःख भरे स्वर को सुनकर उसे रंज होता है, उसके आंसू भी आ जायेंगे। ऐसे ही जिन ज्ञानी पुरुषों को यह परिचय है कि ये सब चैतन्य राजा शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप है, ये तो नाटक खेल रहे हैं। कभी मनुष्यभव का बाना रखा, कभी देवगति का और कभी पशु पक्षी का, ये तो सब नाटक है। इस प्रकार के जाननहार पुरुष को इन मनुष्यों को निरखकर भी हर्ष विषाद न होगा। वह तो मात्र ज्ञाता द्रष्टा रहेगा। ठीक है, आज यह परिस्थिति है।

पर्यायबुद्धि में मूढ़ता—भैया! ! जो नहीं जानते हैं जीवों के अन्तरंग में बसने वाले मर्म को वे जरा-जरासी बातों में अपना सम्मान और अपमान महसूस करते हैं। कोई पहिले से राम-राम न कर पाया तो बाबू साहब यह समझते हैं कि इसने मेरी बेड़ज़ती की, मेरा सम्मान ही नहीं किया। यह इस प्रकार से क्यों सोचता है? क्योंकि इसकी भी बुद्धि पर्याय में ग्रस्त है। अरे, रामराम न की, न सही, क्योंकि वह अज्ञानी है, वे स्वतंत्र हैं, उसने न की तो पहिले हम कर लें। ज्ञातादृष्टा रहता है ज्ञानी। यह तो एक माया का स्वरूप है, परमार्थभूत कुछ नहीं है। अपने जीवन का लक्ष्य धन का जोड़ लेना मत समझो। इस लक्ष्य का फल बुरा होगा।

आता है तो आयेगा, उसमें व्यवस्था बना लो । कर्तव्य तो यह है कि जो कुछ मिलता है आपको, उसके भीतर ही व्यवस्था बना लेनी चाहिए । जितनी भी बन सकती हो, यह तो है विवेक, बुद्धिमानी और अपने मन को अधिक उद्दण्ड बनाकर अधिक खर्च करना, आवश्यकता की कल्पना करके फिर तृष्णा करना, चाह बढ़ाना ही लाभदायक बात नहीं है ।

जीव का सही बड़प्पन—बड़प्पन जीव का धर्म से होता है, धन से नहीं होता है । धन से माना हुआ बड़प्पन तो स्वप्न का दृश्य है, वास्तविक बड़प्पन नहीं है । अपने आपके आत्मस्वरूप का ज्ञान हो और इसी शुद्ध स्वरूप का विश्वास हो । जैसे कि जाना है कि यह मैं केवल ज्ञानमात्र हूँ । सो ऐसे ही ज्ञातामात्र रहने का यत्न करें, उससे आत्मा का इतना बड़प्पन होता है कि फिर तीनों लोक के इन्द्र भी आकर उसकी सेवा करेंगे । आपके घर में कई बालक हैं, उनमें जो बालक मांग-मांगकर खाते हों, उन पर आपकी दृष्टि भी विशेष भली न होगी । जो बालक मना-मनाकर दिया जाने पर भी थोड़ा ही लेते हों, उसका आप सम्मन अधिक करेंगे और ख्याल भी अधिक करेंगे । ऐसे ही ये सब वैभव मांगने से याने तृष्णा करने से, आशा रखने से, भ्रम को करने से नहीं आते हैं । पुण्य गांठ में हो, उदय अनुकूल हो तो ये सब आ ही जाते हैं ।

विवेकबुद्धि से लाभ—नारियल के पेड़ में फल देखो कितने ऊंचे लगते हैं, पर उनमें पाव डेढ़ पाव पानी कहां से आ जाता है? ऊपर से उसका कितना कठोर छिलका होता है, फिर भी पता नहीं पड़ता कि वह पानी कहां से आ जाता है? लोग उस पानी को निकालकर पीते हैं । आप बताओ कि उस नारियल में पानी कौन डालने आया? किस जगह से वह पानी निकल कर आया, उसमें कोई स्रोत ही नहीं है । तो जैसे नारियल में पानी स्वयं आ गया, कुछ स्रोत का भी पता नहीं है । ऐसे ही पुण्य के उदय के फल में ये सर्वसमागम यों आ जाते हैं कि उसके स्रोत का कोई प्रोग्राम भी तो नहीं बन पाता । कैथ को हाथी खा जाए और फिर लीद करे तो पूरा कैथ निकल आता है । वजन तोलो तो मुश्किल से दो तोला निकलेगा । जब खाया था तब पाव भर का था । उस कैथ में कहीं छेद या दरार भी नहीं है, पर यह सारा रस भी कैसे निकल गया ऐसे ही पाप का उदय आने पर यह वैभव यों ही नष्ट हो जाता है । इसकी ओर दृष्टि न दो । इस प्रसंग में तो यही निर्णय रखें कि जो समागम जुटेंगे, मिलेंगे, उसमें ही अपनी व्यवस्था बनायें और शक्ति हो तो सकल परिग्रहों का त्याग करके साधुता के जीवन को निभाकर उसमें आत्मीय आनन्द लूटे मनुष्यजीवन को धर्मपालन में ही लगाकर सफल करना अपना परम कर्तव्य है ।

श्लोक (४६)

स धर्मो यत्र नाधर्मस्तसुखं यत्र नासुखम् ।
तज्ज्ञानं यत्र नाज्ञानं सा गतिर्यत्र नागतिः ॥ ४६ ॥

धर्म वह है जहां अधर्म नहीं है । सुख वहाँ है जहाँ दुःख नहीं है । ज्ञान वहाँ है जहां अज्ञान नहीं है और गति वही है जहाँ से फिर कभी आना नहीं होता ।

अधर्म के अभाव में ही धर्म का सद्भाव—जिन प्रवृत्तियों में हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का पाप है। वे सब प्रवृत्तियां अधर्म हैं। जहाँ अधर्म का सम्बन्ध है, वहाँ धर्म नहीं है। धर्म के पात्र के सम्बन्ध में नीतिकार ने कहा है—

‘गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत् ।’

धर्म का आचरण वही पुरुष कर सकता है, जिसके यह बुद्धि है कि मृत्यु मेरे सर पर ही मढ़ी हुई है। किसी भी क्षण यह मृत्यु इस प्राणी को प्राण का वियोग करा देगी। अपने जीवन में भी जब कभी कठिन बीमारी आयी होगी तो प्राय सबको आयी है। ऐसी भी स्थितियां हुई हैं, जहाँ जीने का भी संदेह रहा था। परिजनों ने तो निर्णय भी कर लिया था कि अब यह जिन्दा नहीं रह सकता। कोई रोगी हुआ, कोई दंगे में फंसा, कोई अग्नि में फंस गया तो कोई जल में डूबते बचा, इस प्रकार की अनेक स्थितियां हुई हैं। जबकि जीवन रहने को ही न था, उस समय हम आपने कुछ धर्म की ओर दृष्टि दी थी। प्रकृत्या कुछ विवेक होता है तब यह सद्बुद्धि आती है कि मैं यदि अब की बार बच गया तो खूब जीवनभर धर्म करूँगा। ज्ञान और वैराग्य से ही वास्ता रखूँगा, लेकिन कर्मों की विचित्रता देखो कि ठीक हुए और कुछ दिन गुजरे फिर धर्म की सुध नहीं रही।

विपत्ति में धर्म के ख्याल की प्रकृति—एक मनुष्य नारियल के पेड़ पर चढ़ गया। चढ़ तो गया बहुत ऊचे, किन्तु चढ़ने पर जब नीचे देखता है उतरने के लिए तो बड़ा भय लगता है। हाय अब कैसे उतरा जायेगा? सो वहाँ चढ़ा हुआ मन में कहता है कि यदि मैं उतर जाऊं तो १०० ब्राह्मणों को खिलाऊंगा। ब्राह्मण का अर्थ है जो ब्रह्मस्वरूप को जानें। न जानें उनकी बात नहीं है। ब्रती पुरुष त्यागीजन ज्ञानी पुरुष थे सभी ब्रह्मस्वरूप हैं। अब तो ब्राह्मण जाति कहलाती है। कुछ उसने हिम्मत बनायी तो खिसक कर कुछ नीचे आ गया। अब मन में सोचता है कि १०० तो नहीं, पर २५ को तो जरूर खिलाऊंगा। जब और नीचे उतरा तो सोचता है कि २५ को तो नहीं, पर दो को जरूर खिलाऊंगा, और जब बिल्कुल नीचे उतर आया तो सोचता है—वाह, उतरे तो हम है, खिलाना किस बात का? ऐसी प्रकृति होती है मनुष्य की जब किसी विपत्ति में फंस जाता है, प्राणों का भी संदेह है तो वहाँ यह धर्म की सोचता है। पर जैसे ही समय गुजरा कि ज्यों का त्यों होने लगता है।

पापों की आत्मवैरिता—पाप कार्य इस जीव को सुख के कारण तो होते ही नहीं है। किसी का दिल दुखाने का झूठ चोरी, कुशील आदि का परिणाम भी करें तो उसमें ही क्लेश होने लगता है। जहाँ अधर्म नहीं रहा उसे ही धर्म कहते हैं। धर्म का परिचय अधर्म के अभाव से करना। हम कितना पूजन करते हैं और कितनी देर मंदिर में झाँझें बजाते हैं उससे धर्म का अनुपात न लेना। वह तो धर्म का साधन है, किन्तु मेरे क्रोध इतना कम हुआ, मान, माया, लोभ आदि इतने कम हुए हैं, इससे धर्म का अनुपात लेना। मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ ये ५ और लोभ का ही एक भेद है काम, इस प्रकार जीव के ये ६ बैरी हैं।

मोह का वैरीपन—मोह करना है क्या? अत्यन्त भिन्न पदार्थ चेतन व अचेतन परिग्रह है उनसे अपना हित

मानते हैं, अपना बड़प्पन समझते हैं, लोग उनमें ही अहंकार और ममकार करते हैं यह सब मोह है। यह मोहपिशाच इस जीव को निरन्तर बरबाद किए जा रहा है। जहाँ मोह है वहाँ धर्म का वास नहीं, धर्म की मान्यता का संतोष न करें। धन बढ़ाने के लिए, परिजनों को सुखी रखने के लिए भजन पूजन, तप कुछ भी धर्म के कार्य किए जायें वे धर्म हैं ही नहीं। उनका उद्देश्य ही अधर्मरूप है। कहीं लड़ाई हो जाये आपस में और ठान ले उपवास लड़ाई की वजह से तो ऐसा उपवास करना क्या धर्म हो गया? क्रोध भी किया, दिल भी दुखाया, भूखों भी मरे, ऐसे ही समझिये कि अपने विषयसाधनों के लक्ष्य से कुछ भी धार्मिक कार्य किया जाये, वह धर्म नहीं कहला सकता।

धर्म का लक्षण—मेरा मोह दूर हो, इसके लिए जो निर्मोह ज्ञानस्वरूप की दृष्टि की जाती है वह धर्म है। मेरी कामवेदना समूल समाप्त हो, इस ध्येय से जो निष्काम ज्ञानानन्द स्वरूपमात्र अंतस्तत्त्व की उपासना की जाती है वह धर्म है। मेरे क्रोध, मान, माया, लोभ दूर हों, एतदर्थ कषायरहित शुद्ध ज्ञायकस्वरूप की को उपासना की जाती है वह धर्म है।

विभावविडम्बनायें—मोह की विडम्बना से यह संसार विडम्बित हो रहा है। अनाप-सनाप अपनी कल्पनाएँ बनाते हैं, फल कुछ नहीं होता, मिलता जुलता कुछ नहीं है, केवल कष्ट ही भोगता है। काम की पीड़ा में यह पुरुष अपने स्वरूप का होश खत्म कर देता है जहाँ अपवित्र देह रुचने लगा हो वहाँ कौन इस शुद्धज्ञायकस्वरूप की सुध ले? इस कामवासना में यह जगत् बरबाद हो रहा है। क्रोध को तो लोग चांडाल कहते हैं। तीव्र क्रोध करने वाला पुरुष लगता भी भयंकर चांडाल जैसा है। क्रोध की स्थिति में मुख में सुन्दरता नहीं रहती है, न हाथ पैरों में धैर्य रहता है, न गम्भीरता रहती है। हृदय विवेकशून्य हो जाता है। क्रोध को लोग चांडाल कहते हैं।

क्रोध चाण्डाल—एक साधु बाबा रास्ते में ध्यानस्थ बैठे थे। उनके सामने से निकली एक भंगिन। वह सामने खड़ी हो गयी तो साधु कहता है अरी तू परे हो जा। वह न हटी। साधु बड़े गुस्से में आकर जब ऐसा पुनः बोलता है तो भंगिन कहती है—तुमने हमारे पति को अपने घर में क्यों रख छोड़ा है साधु सोचता है कि न मेरे घर और न इसके पति से मेरा कोई वास्ता, पर यह इस तरह से कह रही है। कुछ विवाद तेज हो गया, लोग जुड़ आये। लोगों ने उसका मर्म जानना चाहा, तो मर्म क्या निकला कि साधु ने अपने हृदयरूपी गृह में क्रोधरूपी चांडाल बसा रखा है। तो उसने कहा कि साधु महाराज, पहिले इस क्रोध चांडाल को अपने हृदय से निकाल दो। क्रोध को चांडाल कहा है।

मोह और कषायभावों से अनर्थ—खूब सोचते जावो क्रोध से क्या सिद्धि होती है? जो विरोधी हो। अपने को रुचता न हो, उसके सम्मुख भी क्रोध न करे। शान्ति से बात कर सके तो इसमें कुछ लाभ है। कचहरी में वकील लोग एक यह भी अपना हाथ खेलते हैं कि कोई ऐसी औंधी बात कह दे कि दूसरे वादी के वकील को गुस्सा आ जाये। गुस्सा आ जाने पर फिर ढंग से बात न कर सकेगा। उसकी बुद्धि सब उड़ जायेगी। क्रोध की स्थिति में बुद्धि काम नहीं देती है। बड़ों की यह महंतता है कि क्रोध जैसी स्थिति में भी अपने

आपको समाधानरूप रख सकें। जीवन में धर्म का शरण लिए बिना शांति हो नहीं सकती, पर धर्म का अर्थ मोह और कषाय नहीं होता है। और सत्संग, देवदर्शन और भी जितने काम किये जाते हैं, वे सब मोह और कषाय को दूर करने के लिए किये जाते हैं। मोह होने से पुण्य घटता है पाप बढ़ता है। यों ही क्रोध करने से पुण्य क्षय होता है, पाप आगे आता है। तो कषाय के करने से लौकिक सुख भी नहीं मिलता है और आध्यात्मिक आनन्द भी नहीं मिलता है।

मोह में वास्तविक विश्राम का अभाव—भैया! यों मोह का ही तो कारण है कि चाहे कुछ भी मिल जाये, घर में कितनी भी सम्पदा हो जाए, मगर सुख से नहीं रह सकते हैं। जो कुछ पाया है उसका भी मौज नहीं ले सकते हैं। जिसे जो मिला है, उसका चौथाई ही पहिले से होता तो क्या गुजारा न किया जाता? जो कुछ भी मिला है उसे जरूरत से अधिक जानों। ऐसा अपना विश्वास बनाओ तो शान्ति की गैल मिलेगी, यह मूल बात है। जो भी मिला है उसे जरूरत से अधिक जानों। दूसरों के शान शौक को देखकर अपनी इच्छा बढ़ाना और इस मायामय स्वप्रवत् काल्पनिक सुख में मौज मानना तो केवल क्लेश का ही मार्ग है। सबसे आंखें मींचकर अपना उपयोग हटाकर अपने आपके इस ज्ञानउपवन में विहार करने लगे तो शुद्ध आत्मीय आनन्द प्रकट होगा। धर्म ही आनन्द को देने वाला है। जहाँ अर्धम न हो, वहाँ धर्म समझिये।

विषयसुखों की असुखरूपता—सुख भी वही है जहाँ क्लेश नहीं है। संसार के ये विषयजन्य सुख सुख यों नहीं कहलाते कि इनमें पहिले भी दुःख भरा है। वर्तमान में भी दुःख है और आगामीकाल में भी दुःख होगा। दुखी होते जाते हैं और भ्रम से सुखी मानते जाते हैं। जैसे लालमिर्च का लोभी सी-सी भी करता जाता है, उसे उसी वेदना में मौज आ रहा है। यों ही विषयों के लोभी विषयों के सेवन में बहुत ही क्षुब्ध होते जाते हैं। अनेक तरह से अपमान और पराधीनता के क्लेश भी सहते जाते हैं, फिर भी उनमें ही मौज मानते हैं।

देवभक्ति की व गुरुभक्ति की पात्रता—भैया! यदि शुद्ध ज्ञान और वैराग्य के मार्ग की रुचि न जगी तो देव और गुरुओं का मानना केवल ढकोसला है और एक तरह की तफरी भर है, मन बहलावा भर है। जिस देव को हम मानते हैं, उस देव ने क्या किया? निष्परिग्रह होकर केवल आत्मध्यान करके सर्वज्ञता पायी। ऐसे ही मार्ग को हम अपने लिए न चाहें और परिग्रह की तृष्णा ही करते रहें तो हम उस देव के भक्त कैसे कहे जा सकते हैं हम गुरुओं की सेवा भी करते जायें और चित्त में यह भी सोचते जायें कि इन बेचारों के न मां बाप है, न कोई है। इनको तो हम ही को संभालना है। अपने से हीन मानते जायें, नमस्कार भी करते जायें, सेवा भी करते जायें, किन्तु धन वैभव परिजन के कारण अपने में वैभव का अहंकार बसाये हों तो उन्हें गुरुभक्त नहीं कहा जा सकता है। ऐसा कोई विचार हो कि हम गृहस्थ पंक में फंसे है। यह उन्नति का मार्ग नहीं है। ये गुरुजन अनेक झांझटों से निकल कर एक विशुद्ध ज्ञानस्वरूप के अनुभव के लिए प्रयत्नशील है। इनका महान् जीवन धन्य है। मेरी भी यही स्थिति हो—ऐसी भावना जगे तब तो गुरुभक्ति कही जा सकती है।

मुग्धप्रसंग का कारण—ये प्रभु जिनकी हम रोज पूजा करते हैं, ये अनन्त आनन्द में मग्न है, क्योंकि

इनका आनन्द स्वाधीन है। किसी भी वस्तु के प्रति मोह रागद्वेष इनके नहीं है। पूर्ण शुद्ध निष्कलंक ज्ञानपुञ्ज हो गये हैं। वही स्वरूप हम आपमें सामर्थ्य है, क्योंकि स्वरूप वही का वही है जो प्रभु का है। प्रभु के निकट न जायें और इन मोही जीवों में ही घुसे रहें तो क्या यह कोई विवेक की बात है? उन मोही अज्ञानी जीवों में ही तेरी रुचि जगती है तो यही तुझ पर बड़ी विडम्बना है, यही वास्तविक विपदा है। सुबुद्धि पैदा कर। तू सुबुद्धिस्वरूप ही है, परन्तु विषयों की अभिलाषा जग गयी सो सारी बुद्धि उल्टी हो गयी। ये विषय भिन्न चीज हैं, त् इनकी अभिलाषा क्यों करता है? तू स्वतंत्र है, तू अपने ज्ञानदर्शन स्वरूपमात्र है। उस स्वरूप को निरख तो अनन्त आनन्द मिलेगा।

विषयसुखों में व्यक्त दुःखों की पूर्वापरता—ये समस्त विषयसुख दुःखों से भरे हुए हैं, इन बातों को क्या समझना है, सब पर बीती हुई है कि इस जीवन में इन विषयसुख के कारण अपने आपको फंसाया, दुःखी किया, पर आनन्द अथवा प्रसन्नता कुछ भी नहीं प्राप्त की। यह सुख नहीं है। सुख वह है जिसके बाद दुःख न आये हैं। क्या है कोई ऐसा सुखिया स्त्री का, पुत्र का, धन का कि जिसके आगे दुःख न आये? और शाम सुबह का तो भरोसा नहीं कि क्या गुजर जाये? आगे की तो कौन कहे? इस संसार में कहीं सुख नहीं है। करने को तो सब करते ही हैं। गृहस्थ हैं, पर ज्ञान तो सही रखना चाहिए। जो वास्तविक सुखमय है वे ही तो परमेष्ठी कहलाते हैं। साधुता से पहिले, आत्मध्यान की स्थिरता से पहिले किसी को सुखी नहीं कहा जा सकता। कोई सही बात मान ले तो उसे दुःख भी कष्ट न देगा और सुख भी अलाभ न देगा।

यथार्थज्ञान में कष्ट की अवेदना—कोई कष्ट आया है तो बुद्धि तो व्यवस्थित बनावो कि संसार तो कष्टमय ही है। कोई अचानक अघटित बात नहीं होती है। यहां तो सारे जीवन में कष्ट ही कष्ट है। आये हैं कष्ट तो उनके ज्ञाता द्रष्टा रहो, उन पर भी एक हंसी मुस्कान लावो।

यथार्थज्ञान में कष्ट की अवेदना—यह भी एक संसार की तरंग है। दुःख न रहेगा ज्यादा। एक सेठ को किसी

अपराध में जेलखाने में बंद कर दिया गया। अब वहाँ चक्की भी पीसनी पड़े औं-और भी काम करने पड़े, इससे वह सेठ बड़ा दुःखी था। सोचता हैं कि देखो कहाँ तो मैं गद्दी तक्की पर पड़ा रहता था और कहाँ अब चक्की पीसनी पड़ रही है। ऐसा दुःखी देखकर एक कैदी को उस पर दया आयी और वह समझाने लगा-सेठ जी! यह तो बतलावो कि इस समय तुम स्वसुराल में हो या जेल में हो? सेठ बोला जेल में है। तो जेल में तो यही करना पड़ता है। तुम घर की और स्वसुराल की बातें छोड़ दो कि मेरी ऐसी खातिरी होती थी। जहाँ हो वहाँ की बात देखो। लो इतने में ही उसका दिमाग बदल गया और दुःख कम हो गया। तो दुःखों से क्या घबड़ाना? संसार दुःखमय ही है। कभी यह न सोचो कि मुझ पर अनहोनी बीती है। सब हो सकता है, सब होता है। यहाँ किसी भी बात को अनहोनी मत समझो। संसार दुःखमय ही है। जो विषयों की लालसा रखता है वह क्लेश का ही पात्र होगा। सुख तो आत्मज्ञान में, आत्ममनन में आत्मदर्शन में है।

ज्ञान का निजरूप—ज्ञान वह कहलाता है जहाँ अज्ञान न हो। परमार्थतः ज्ञान वह है जो ज्ञान ज्ञान का www.sahjanandvarnishastra.org

शुद्धस्वरूप जानता रहे । जो ज्ञान अपने स्वरूप को न जानकर बाहरी जड़ पदार्थों में आसक्त होकर जानता है वह ज्ञान ज्ञान नहीं है, अज्ञान है । ज्ञान वही है जहाँ अज्ञान नहीं है । जहाँ भेदविज्ञान है, जहाँ विवेक बुद्धि समर्थ है, ज्ञान उसी का नाम है ।

शुद्धगति व उसके लिए कर्तव्य—गति भी आदरणीय वह है जहाँ से फिर लौटना न हो । सिद्ध गति—सिद्ध दशा कोई गति नहीं है, पर गतियों से छूटकर जहाँ जाना हुआ, चाहे जाना ऐसा हुआ कि फिर कभी संसार में लौटकर न आये उसे भी लोग गति कहते हैं । एक भव से आये दूसरे भव में गये, वह ही व्यक्त गति है । आवागमनरूप गति प्रशंसनीय नहीं है, यह स्थिति तो क्लेशकारिणी है, गति याने जाना तो वही प्रशंसनीय है जहाँ से फिर आना नहीं होता है अर्थात् गतिरहित होने की गति ही हितकारिणी स्थिति है । मुक्त जीव निर्वाण अवस्था को प्राप्त होकर फिर संसार में लौटकर नहीं आते । निर्वाण की प्राप्ति का पुरुषार्थ ही वास्तविक पुरुषार्थ है ऐसा जानकर अधर्म का तो परिहार करें, विषयसुखों से उपेक्षा करें, अविवेक से दूर रहें और मुक्ति की ही वाञ्छा रहे, इसही प्रवृत्ति से इस जीवन की सार्थकता प्राप्त होगी ।

श्लोक (४७)

वार्तादिभिर्विषयलोलविचारशून्यं
क्लिश्नासि यन्मुहूरिहार्थपरिग्रहार्थम् ।
तच्चेष्टिं यदि सकृत् परलोकबुद्ध्या
न प्राप्यते ननु पुनर्जननादि दुःखम् ॥ ४७ ॥

अपूर्व यत्र की सुध का अनुरोध—हे इन्द्रिय के विषयों में आसक्त विचारहीन पुरुष ! तू असिमसि कृषि खेती व्यापार आदि अनेक उद्यम करके इस लोक में धनसंचय के निमित्त बारबार क्लेश करता है । अरे एक बार ऐसा तो उपाय कर कि आगे जन्म मरण ही समाप्त हो जायें, अर्थात् धन का साधन छोड़कर तृष्णा त्यागकर धर्म का साधन कर । हमको वास्तव में शान्ति के लिए करना क्या है? इतना भी यदि चित्त में समा जाये तो चाहे उसे न भी कर सकें तब भी आकुलता में कर्मी हो जायेगी । जिस पुरुष ने अपने जीवन का यह लक्ष्य ही नहीं बनाया और लक्ष्य बनाया है धन कमावें, परिवार बढ़ावें । बचे खुशी रहें, हमारा विवाह हो, फिर संतान हो और कुल में यह परम्परा बराबर बनी रहे इतना ही मात्र जिसके जीने का उद्देश्य है, वह न तो कभी संतोष पा सकेगा और न कभी विश्राम पा सकेगा । कारण कि इसकी पूरिया कभी पूरी हो ही नहीं सकती ।

ऊबभरी लम्बी कहानी—एक बार रात्रि के समय किसी राजा को नींद नहीं आ रही थी, सो राजा ने मंत्री से कहा कि कोई ऐसी कहानी तो सुनावो कि एक ही कहानी में रात गुजर जाये । मंत्री ने कहा अच्छी बात । सुनो ! हम ऐसी लम्बी कहानी छेड़ेंगे कि एक रात तो क्या, वर्ष भर के दिन रात भी गुजर जायें तो भी हमारी कहानी पूरी न हो सकेगी । अच्छा सुनावो कहानी । सुनो—एक बार मैं एक बाग में घूमने गया,

कुछ हमारे साथी भी थे । देखो हम कहानी कहेंगे, तुम हुंकारा देते रहना तो कहानी फिट बैठेगी । तो सुनो राजन् ! हम बाग में गए, वहां बाग में हजारों इमली के पेड़ थे । एक इमली के पेड़ में बहुत बड़ी-बड़ी १५ के करीब-करीब शाखायें थीं और एक-एक शाखा में करीब ५०, ५० उपशाखायें थीं । एक-एक उपशाखा में करीब १००, १०० टहनियां लगी हुई थीं । राजन् सुनते रहना और हुंकारा देते रहना । एक-एक छोटी टहनी में हजार-हजार पत्ते लगे थे । एक भंवरा आया । राजन् हां बोलते जावो, नहीं तो कहानी हम न सुनावेंगे । राजा उसकी हर एक बात पर हूँ हूँ बोलता जाये । एक भंवरा आया सो एक पत्ती पर बैठ गया । राजन् पूछते जावो कि फिर क्या हुआ? तो हम कहानी सुनावेंगे । राजा बोला फिर क्या हुआ ? एक भंवरा आया और एक पत्ती पर बैठ गया । फिर क्या हुआ फिर पुर्झ उड़ा, तीसरी पत्ती पर बैठ गया । सो करीब १०० बार तो राजा ने हुंकारा दिया और पूछा । अब बतावो जिस बाग में हजार इमली के पेड़ हों और उनकी एक-एक पत्ती पर वह भंवरा उड़ उड़कर बैठे तो कितने वर्ष के रात दिन गुजर जायेंगे इस कहानी को पूरा होने में? राजा तो उतने में ही घबड़ा गया । घंटे डेढ़ घंटे में ही नींद आने लगी और बोला कि मंत्री अब किस्सा बंद करो ।

तृष्णा की बेछोर कहानी—भैया ! वह किस्सा तो चाहे कभी पूरी हो जाये उन हजार पेड़ों की बाग वाली बात का, पर यहाँ की तृष्णा का किस्सा तो कभी पूरा हो ही नहीं सकता । अरे इस भव से मरे तो दूसरे भव में गए, वहाँ भी यही रोग, यही तृष्णा । अब तक इस जीव ने अनादि काल से अनन्त भव धारण किए, अनगिनते भी नहीं, अनन्त, उन सब भव में क्या किया सिवाय तृष्णा के? यह जीव, यह मनुष्य सम्यग्ज्ञान के न होने से भ्रम में बड़ा दुःखी है । इस दुःखी जीव को ज्ञान का ही एक ऐसा सहारा है कि वह दुःख भूल सकता है, आनन्द पा सकता है । ज्ञान का जोग न मिले तो और कोई उपाय नहीं है कि इसको शान्ति मिल सके ।

अपूर्व व्यवसाय का निर्णय—यह जीव सुख चाहता है और दुःख से डरता है । और जितने भी यह प्रयत्न करता है वह सब करता है दुःख दूर करने के लिए, सुख उत्पन्न करने के लिए । चाहे हो कुछ जाये पर उद्देश्य तो सुखप्राप्ति का है और दुःख दूर करने का है । यहां तक कि कोई पुरुष क्रोध में आकर आत्म हत्या भी कर डाले तो वह अपनी हत्या भी अपने को सुखी करने के लिए कर रहा है । जितने भी जीव प्रयत्न करता है सब अपने को सुखी करने के लिए । फिर चाहे सुख मिले या न मिले, पर लक्ष्य व प्रयत्न है अपने को सुखी करने का । इसही जीवन में ४०,५० वर्ष तक कितने काम कर डाले, हेर फेर करके कितने व्यापार कर डाले, बहुत काम किया, अब अपने आप पर दया करके एक काम और कर लो । जैसे व्यापारी पुरुष कोई व्यापार करता हैं, लगातार उसमें नुकसान पड़ता रहे तो उसे बदलकर दूसरा व्यापार करता है, उसमें भी लगातार नुकसान पड़ता रहे तो उसे भी बदल—कर तीसरा व्यापार करता है । तो हे आत्मन् ! अब तक तूने जितने व्यवसाय किये, श्रम किये? उन सब श्रमों में तुझे टोटा ही पड़ता रहा । किसी भी प्रसंग में किसी भी श्रम से तेरे आत्मा में तेरे आत्मा को संतोष देने वाला कोई काम नहीं हुआ । अब तो तू अपने इन

व्यवसायों को बदल दे । एक अपूर्व नया व्यवसाय कर । वह नया व्यवसाय है भिन्न अहित समस्त परद्रव्यों की दृष्टि त्यागकर अपने आप में सहज ज्ञानानन्दप्रकाशरूप प्रतीति रखना ।

निर्नाम चिदब्रह्म की प्रतीति—भैया ! जैसे कि अपने नाम की अपने में प्रतीति है, मैं अमुक हूँ, कैसी प्रतीति है ? परदेश जाये तो भी नहीं भूलता कि मैं अमुक नाम का हूँ, सोया हो तो भी नहीं भूलता । जैसे नाम की प्रतीति स्वयं में कैसी श्रद्धापूर्ण भरी हुई है—ऐसे ही यदि पर्यायबुद्धि की प्रतीति दूर हो जाये और मैं तो नामरहित देहरहित एक शुद्ध ज्ञानप्रकाशमात्र हूँ, ज्ञानात्मक तत्त्व हूँ, इस मुझ ज्ञानात्मक तत्त्व का वास्तव में कुछ नाम ही नहीं है, लोगों ने व्यवहार के अर्थ इस देह का, इस पर्याय का नाम रख लिया है, पर मेरे आत्मा का कुछ नाम भी है क्या ? कोई नाम नहीं है । मैं नामरहितमात्र ज्ञानप्रकाशमात्र हूँ, यह प्रतीति जगे तो निराकुलता बनेगी, आत्मीय आनन्द जगेगा । भविष्यकाल में मैं दुःखी न होऊँ, इसके लिए लोग बहुत बड़ा प्रयत्न करते हैं, तो परलोक में भी मैं दुःखी न होऊँ ऐसा भी तो ख्याल कर और प्रयत्न कर । परलोक में दुःखी न होऊँगा, ऐसा कोई यत्न है तो वह यही यत्न है ।

सर्व आत्माओं की व उनके धर्म की एक पद्धति—जैसे मनुष्य सब एक समान पैदा होते, एक समान मरते और एक ही समान मूल में सुख दुःख का उपाय रचते हैं । कहीं ऐसा उपाय तो नहीं है कि अमुक सम्प्रदाय के आदमी इस तरह पैदा होते हैं, अमुक सम्प्रदाय के इस तरह, ऐसा कोई पैदा होने में भेद तो नहीं है, मरने में भी कोई भेद नहीं है । ऐसे ही जानों कि इन समस्त आत्माओं में आत्माओं के स्वरूप का भेद नहीं है । समस्त आत्मा एक ज्ञानज्योति स्वरूप है, उस स्वरूप को निरखें और उसही रूप अपनी प्रतीति करें तो देखो कितने ही संकट अभी नष्ट हुए जाते हैं । जहाँ पर्यायबुद्धि होती है देह में यह मैं हूँ ऐसी मान्यता होती है और दूसरे देहों में ये पर है ऐसी दृष्टि जगती है बस तभी संकट उत्पन्न होने लगते हैं । सम्मान अपमान की बुद्धि जहाँ बनी, वहाँ क्लेश ही हुआ करता है । जरा इस नामरहित शुद्ध ज्ञानस्वरूप अपने आपकी प्रतीति करके निहारो तो कोई कष्ट ही नहीं है । इस दुनिया में यश को और कीर्ति को फैलाने की यह महान् होइ फिर यह जीव नहीं मचा सकता ।

नाम की प्रतीति पर विडम्बनाओं का प्रवाह—भैया ! एक थोड़ी यही कल्पना करो कि सभी मनुष्यों का यदि एक ही नाम रख दिया जाए, भिन्न भिन्न नाम न हों, सबका एक ही नाम हो । मान लो सबका नाम खचेडुमल रख दिया जाए तो अब किसी भी मनुष्य के मन में यह लालसा नहीं जग सकती कि मैं अपना यश फैलाऊं, कीर्ति फैलाऊं, क्योंकि नाम फैलेगा तो वही खचेडुमल का नाम आएगा । एकसा नाम हो या नाम ही न हो, ये दो बातें अच्छी हैं । ये भिन्न-भिन्न नाम होना और उन कामों में अपनी प्रतीति करना ही दुःख का कारण है । किसी सिद्धान्त में तो सब दुःखों की जड़ नाम को बताया है । जितने भी क्लेश उत्पन्न होते हैं, वे सब नाम से प्रकट होकर ही होते हैं । एक श्रद्धान् बनाओ कि मुझ आत्मा का तो नाम ही नहीं है । देखो सुखी शान्त होने की बड़ी सुगम चिकित्सा बतायी जा रही है । ऐसा श्रद्धान् हो सकता है कि सबको भूलकर इन्द्रियों को संयत करके एक मन भ्रम को दूर करके संतोषपूर्वक विश्राम तो कीजिए । दो चार सेकेंड

में ही तो अनुभव में आएगा कि ओह ! यह मैं इसका तो कुछ नाम ही नहीं है । यह मैं आत्मस्वभाव विलक्षण उत्कृष्ट तत्त्व हूँ, ऐसा नामरहित अपने आपकी प्रतीति कर लेना ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है ।

कृतकर्म का उपभोग—अहो ! जिन जीवों के प्रसन्न करने के लिए, सुखी करने के लिए इतना अथक परिश्रम किया जा रहा है, वे सब तुम्हारे क्लेशों में हाथ नहीं बंटा सकते हैं । केवल अपना कमाया हुआ पुण्य पाप ही अपने साथ रहता है और जो किया है वह बदल नहीं सकता, फल देगा । कोई बड़ा ही ज्ञानपूर्ण उत्कृष्ट तपश्चरण हो तो किया हुआ पाप बदल तो सकता है, पर यों ही नहीं बदल सकता ।

दो धार्मिक मित्र का दृष्टान्त—दो मित्र थे, उनकी धार्मिक चर्या थी । प्रतिदिन स्वाध्याय का उनके नियम था । एक घंटा रोज शास्त्रचर्चा करना और अपने राग का बोझ हलका कर लेना ही उनका रोज का काम था । अन्य बातें तो सब सुलभ हैं, किन्तु धर्मध्यान की चर्चा करना, ऐसी संगति प्रसंग मिलना बहुत दुर्लभ चीज है । जो सबसे बड़े उत्कृष्ट पुरुष होते हैं या देव होते हैं, उनका समय धर्मचर्चा में व्यतीत होता है । हीन दीन दुःखी पुरुषों का जीवन व्यग्रता में और परिश्रम में व्यतीत होता है, किन्तु पुण्यवान् आत्माओं का, उत्कृष्ट जीवों का समय धर्मध्यान और गुणों की चर्चा में व्यतीत होता है । देवों में उत्कृष्ट देव, लौकांतिकदेव व सर्वार्थसिद्धि के देव होते हैं । सागरी पर्यंत उनका समय धर्मध्यान की चर्चाओं में व्यतीत होता है, ऐसा जीवन मिलना, सुयोग मिलना, जहाँ धर्मचर्चायें अधिक हुआ करें वह जीवन और वह क्षण दुर्लभ चीज हैं ।

धार्मिक मित्रों का वचनार्पण—वे दोनों मित्र एक दिन स्वाध्याय करते हुए परस्पर में वचनबद्ध हुए कि हम तुम दोनों में से कोई एक मरे और मरकर देव हो तो वह दूसरे को समझाने के लिए यहाँ आये । एक मित्र मरकर देव हुआ और वह दूसरे को समझाने के लिए मन्दिर में आया, जबकि वह स्वाध्याय कर रहा था । बोला कि मित्र हम तुम्हारे मित्र हैं, देव हुए हैं । अब तुम विषयसुखों में, गृहस्थी के जंजालों में अधिक मत फंसों, कुछ विराम ले लो । तो वह बोला कि वाह, हमारी स्त्री बड़ी आज्ञाकारिणी है, बच्चे बड़े विनयशील हैं । माता पिता हमारी बड़ी चिन्ता रखने वाले हैं, बड़ा आनन्द है मैं उन्हें कैसे त्याग दूँ? देव बोला कि तुम कल के दिन १२ बजे दिन में बीमार होकर पड़ जाना, हम आकर तुम्हें सब सीधा साक्षात् करके ही समझा देंगे ।

मित्र का प्रतिबोधन—मनुष्य-मित्र सिर दर्द का पेट दर्द का बहाना लेकर पड़ गया । घर के लोग बड़े व्याकुल हुए । वह देव सङ्क पर वैद्य का रूप धारण करके दवा की पुकार करके ठहलने लगा । लो हमारे पास बड़ी अच्छी दवायें हैं, दवा बेकार नहीं जाती है । घर वालों ने बुलाया और कहा कि इसकी दवा कर दीजिए । वैद्य ने कहा कि एक गिलास पानी लाओ, पानी आ गया । उसमें कोई एक भस्म डाल दी और कुछ थोड़ा झूठमूठसा मत्र फूंक दिया । पहिले उसकी मां से कहा कि मां ! लो दवा पियों अभी तुम्हारा लड़का ठीक हुआ जाता है । अब घर वाले सोचते हैं कि बीमार तो यह है और दवा हमें पीने को क्यों कहते हैं? वैद्य ने कहा कि यह दवा मन्त्रसिद्ध है । इसे जो पी लेगा, वह तो मर जाएगा और रोगी बच जाएगा । मां सोचती है कि यदि मैं ही मर गयी तो अभी ये जो तीन बच्चे हैं, उनका सुख न देख सकूँगी । सो वह दवा पीने को तैयार न हुई । स्त्री से दवा पीने को कहा तो उसने भी सोचा कि यदि मैं ही मर गयी तो अपने इन

चार बच्चों का सुख न देख सकूँगी इसलिए उसकी स्त्री भी दवा पीने के लिए तैयार न हुई ।

पिता से दवा पीने को कहां गया तो उसने भी इन्कार कर दिया तो वैद्य ने कहा कि क्या मैं दवा पी लूं ? घर वाले बड़े खुश होकर बोले कि हां हां ! पी लो, आप तो बड़े दयालु हैं ।अच्छा ! तुम लोग जाओ, हम इसे पी लेंगे । घर के सभी मनुष्य वहां से चले गये । अब वह समझाता है कि देख लिया तुमने सब ? क्या तुम्हारे लिए कोई हुआ ? बस वह ठीक हो गया, वैद्य चला गया ।

धर्म की सुध से जीवन की सफलता—भैया! किसके लिए अपने आत्मा की सुध खोकर अपने को व्यग्र बनाये जा रहे हो? यद्यपि यहाँ का भी कर्तव्य करें, पर अन्तरंग में निराकुल रहो । बहुत व्यवसाय किया, अब यही पुरुषार्थ करें? जिससे संसार के संकट सदा को मिट जायें । वह उपाय है धर्म पुरुषार्थ का । आत्मा सब एक समान है और धर्म भी सबका एक है । रागद्वेष मोह न करना, केवल जाननहार रहना, इस धर्म का पालन करके संसार के सभी दुःख प्रदान करने वाले संकट मिटा लें, इसमें ही अपने मनुष्यजन्म की सफलता है ।

श्लोक (४८)

संकल्प्येदभनिष्ठमिष्ठमित्यज्ञातयाथात्म्यको ।
बाह्ये वस्तुनि किं वृथैव गमयस्यासज्य कालं मुहुः ॥
अन्तः शान्तिमुपैहि यावददयप्राप्तान्तकप्रस्फुर-
ज्ज्वालाभीषणजाठरानलमुखे भस्मीभवेन्नो भवान् ॥ ४८ ॥

जीव का अनादि से संकल्प और भ्रमण—यह आत्मानुशासन ग्रन्थ है । इसमें आत्मा पर अनुशासन किया गया है । यह जीव अनादिकाल से भ्रमबुद्धि करके नाना कल्पनाओं में बस रहा है और इसी के फल में कभी पशु, कभी पक्षी, कभी वनस्पति और मनुष्यादिक देहों को धारण करता चला आया है । जो पदार्थ सत् है अर्थात् है, वह पदार्थ किसी दिन से बना हुआ नहीं है । जो सत् है वह अनादि से है । असत् कभी सत् नहीं बनता और सत् का कभी समूल नाश नहीं होता, यह अटल नियम है । अपने आपके बारे में विचारों कि मैं सत् हूँ या नहीं यदि न होऊं तब तो बड़ी अच्छी बात है । जो नहीं है उसमें दुःखी क्यों हो ? पर ऐसा तो नहीं है । जब मैं हूँ तो अनादि से हूँ । कुछ भी न हो वह है बन जाए, ऐसा कुछ होता है । उसकी पर्याय बदलती रहती है । जो यह अनादि से है, मैं पहिले ही था, हमेशा तक रहूँगा ।

देह की सादिसात्रिनव्यता—आज यह मैं इस मनुष्यदेह के बन्धन में हूँ । इस मनुष्य देह की आदि है और अन्त है । जब इसका गर्भ हुआ और गर में आना हुआ, तब से तो इस देह का आदि है और जब मरण होगा, तब तक यह देह रहेगा । लेकिन मैं इस देह से पहिले भी था, इस देह के बाद भी रहूँगा । इस देह से पहिले मैं किस रूप में था उसके प्रमाण में जगत् के जीवों पर ही दृष्टि डालकर निहार लो । जैसे विचित्र जीव नजार आते हैं, उन्हीं किन्हीं भी दशाओं रूप मैं भी था । न अपने को अब भी संभाला तो उन्हीं

दशाओं रूप बनूँगा ।

आस्तिक और नास्तिक—भैया ! जरा विचार करो कि आस्तिक व नास्तिक किसे कहा गया है ? वर्तमान दशा से ही अपना सत्त्व मानें, इससे पहिले कुछ न मानें, इसके बाद कुछ न मानें उसे कहते हैं नास्तिक और जो वस्तु को परिपूर्णस्वरूप, अनादि अनन्त मानते हैं उन्हें कहते हैं आस्तिक । मैं आत्मा हूँ, निरन्तर हूँ, इसी कारण नवीन-नवीन दशाएँ बनाता रहता हूँ और वर्तमान दशा को विलीन करता रहता हूँ और मैं बना रहता हूँ । बनना, बिंगड़ना, बना रहना—ये तीन वस्तुओं के वस्तुगत धर्म हैं । कोई दूसरा बनाने नहीं आता है । जो है उस ही में स्वयं ऐसा गुण है कि वह निरन्तर नवीन-नवीन दशाओं में बनता है और वर्तमान दशा को विलीन करता है । इस तरह पर्याय को करता हुआ यह मैं सत् निरन्तर रहता हूँ । यह है वस्तु का स्वरूप । इस स्वरूप को जो पहचान लेते हैं उनके मोह नहीं रहता है ।

मोह की त्वरित परिहार्यता—मोह का अर्थ है एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ को अधिकारी मानना, स्वामी मानना । जब सभी जीव, सभी पदार्थ स्वयं सत् हैं और इसी कारण वे अपने में निरन्तर बदलते रहते हैं, तब उसका किसी अन्य वस्तु पर क्या अधिकार रहा? मैं किसका स्वामी रहा? मैं मेरा ही स्वामी हूँ जिसे ऐसी स्वतंत्रता का भान होता है उसे मोह नहीं रह सकता । राग चाहे भले ही रहा आए, काम नहीं चलता घर बिना, भोजन बिना, इसलिए राग रहता है । पर राग रहा आये मोह न रहे ऐसी भी स्थिति होती है । जो निर्मोह गृहस्थ है वह घर में वैरागी है, वह मोही साधुओं से श्रेष्ठ है, मोह का होना ही अज्ञान है, मोह तो होना ही न चाहिए । इस ही में बड़प्पन है । राग जब छूटे तब छूटे, पर मोह तो इसी समय त्यागना चाहिए । मोह के न रखने से किसी काम में बाधा न आयेगी । जो पदार्थ जैसा है उस पदार्थ को वैसा मान लो, इसी के मायने मोह का त्याग है । गृहस्थी मोह बिना तो चल जाती है, हां रांग बिना नहीं चलती ।

राग और मोह के अन्तर पर एक दृष्टान्त—राग में और मोह में यों अन्तर समझिये जैसे कोई रईस रोगी बड़ा बीमार है, बहुत बुखार है, अच्छे पलंग पर सोता है, सारे आराम के साधन हैं, डाक्टर दवा देता है, मित्रजन उसकी सेवा करते हैं, तो देखने में तो ऐसी लगता कि इसको बड़ा आराम है । कुछ काम भी नहीं करना पड़ता, दसों आदमी उससे बड़े प्रेम के बचन आकर बोलते हैं, यह रोगी औषधि भी पीता है, समय पर औषधि न मिले तो नाराज होता है, सब कुछ है, उसे उस दवा से राग है, पलंग पर आराम करने में राग है, लेकिन मोद नहीं है, इतनी बात समझने की है । उस रोगी के चित्त में यह नहीं बसा है कि ऐसी औषधि मुझे जीवनभर मिले और ऐसे पलंग पर मुझे जीवनभर पड़े रहना पड़े । जिस वस्तु के प्रति अन्तरङ्ग से श्रद्धा होती है उसके मोह कहलाता है । इस रोगी को औषधि से राग है, पर औषधि के राग में राग नहीं है । इसको उस पलंग के आराम से राग है, पर पलंग के आराम के राग से राग नहीं है ।

निर्मोहता की आस्था—ऐसे ही गृहस्थ का बच्चों से राग है, वैभव से राग है, पर जो निर्मोह गृहस्थ है, ज्ञानी गृहस्थ है उसे इस अन्तरंग स्थिति से राग नहीं है । यदि कोई विभाव के अपनायत का श्रद्धान रखता है तो वह ज्ञानी नहीं है, निर्मोह नहीं है । यही अपने आप पर बड़ी दया है कि मोह भाव न रखें, यथार्थ जानते

रहे कि यह तन भी मेरा नहीं है, वैभव तो मेरा होगा ही क्या ? जिन इन्द्रजालोपम मायामय जीवसमूह से हम अपना सम्मान चाहते हैं वे जीव स्वयं कष्टमयी हैं, अज्ञान में भरे हुए हैं, संसार में रुल रहे हैं । ऐसा ही मैं बन जाऊं अथवा हूँ तो इसमें क्या सिद्धि है? न ये सम्मान चाहने वाले सदा रहेंगे, न जिनसे सम्मान चाह रहे हैं वे सदा रहेंगे । यह सब तो इंझटबाजी है । इन सबसे परे केवल ज्ञानस्वरूप देह से भी न्यारा नामरहित मैं सत् हूँ ।

स्वात्मप्रवेश का यन्त्र—मैं वह सत् हूँ जैसा कि सबमें बना हुआ है । मैं सबसे विलक्षण नहीं हूँ । जो सब है सो मैं हूँ, जो मैं हूँ सो सब हैं, ऐसे निर्विशेष चैतन्यचमत्कारमात्र जीव के स्वरूप में अपने उपयोग का प्रवेश करायें और परवस्तु के मोह से दूर रहें, विश्राम लें, आत्मा के अनुभव का संतोष पायें इसी में वास्तविक बड़प्पन है । यह काम केवल विचार-विचार करने से हो जाता है । इसमें किसी दूसरे की रुकावट भी नहीं है । दूसरे पुरुष तो जान भी नहीं सकते कि मैं क्या कर रहा हूँ अन्दर? मैं तो ज्ञानबल से अपने आपके प्रकाश में रह रहा हूँ, इसे कोई रोक नहीं सकता, इसमें कोई विघ्न डाल नहीं सकता । हम ही भ्रम करें, कल्पना बनायें तो हम ही अपने विघ्न के करने वाले होते हैं । सारभूत बात इतनी है कि हम आप सबको अन्त में इस निर्णय में आना चाहिए कि मैं तो ज्ञान और आनन्द भाव से रचा हुआ सत् हूँ, ज्ञानमय हूँ, आनन्दमय हूँ ।

आत्मा की ज्ञानानन्द रस निर्भरता—जैसे मिश्री की ढली माधुर्य रसमय है, कहीं भी मधुर रस की उसमें रिक्तता नहीं है । कहीं मधुर रस हो और कहीं न हो ऐसा नहीं है । मधुर रस मिश्री में सर्वत्र है । ऐसा ही मेरा आत्मा जितना है उस आत्मा में सर्वत्र ज्ञानरस भरा है, हम नहीं अपने को पहिचानते इसलिए अज्ञान छाया है । मुझमें सर्वत्र आनन्द रस भरा है । मैं अपना अनुभव नहीं करता, इसलिए क्लेश भोगता हूँ । जब समग्र वस्तु परिपूर्ण स्वतन्त्र है तब कभी भी किसी बाह्यपदार्थ को उपयोग में न लो । अपने को समस्त जीवों के समान निर्नाम शुद्ध ज्ञानप्रकाशमात्र यदि देखा तो वहाँ एक भी संकट नहीं रहता । सारे संकट एक साथ समाप्त हो जाते हैं ।

संकटसमाप्ति के सुगम उपाय का एक दृष्टान्त—जैसे नदी में कभी कछुवा अपना सिर ऊपर करके चले तो पक्षी लोग उस कछुवे की चोंच पकड़ने के लिए मंडराते हैं । वह कछुवा कभी टेढ़ी चोंच करे, कभी कैसी करे, पर संकट नहीं मिटता । यदि वह अपनी प्राकृतिक कला को खेल ले, चार अंगुल नीचे ही पानी में झूब जाये तो पक्षियों का मंडराना, पक्षियों द्वारा किये जाने वाले सारे उपसर्ग दूर हो जाते हैं, सारे संकट समाप्त हो जाते हैं । जब उस कछुवे ने पानी में चार अंगुल भीतर अपना चोंच कर लिया तो क्या करें अब वे सारे पक्षी?

संकटसमाप्ति का सुगम उपाय—इसी तरह हम अपने इस ज्ञानानन्दमय आत्मा से अपनी बुद्धि की चोंच निकाल रहे हैं तो अपने आपमें अपने ज्ञान का अनुभव न करके यह अमुक है, यह वैभव है, ये मित्र हैं, ये कुटुम्ब है, यह मेरा सम्मान है, यह अपमान है, यह प्रशंसा है, यह निन्दा है आदिक बाह्यपदार्थों में जब हम

अपनी बुद्धि दौड़ाते हैं तो सारे संकट छाये हुए हैं, सारे संकटों से बचने के लिए बाहर ही में अपनी बुद्धि को यहाँ वहाँ उलझाये तो इससे तो बात नहीं बनती, चैन नहीं मिलती। आज अमुक पोजीशन को संभालना, अमुक वैभव को संभालना, थोड़े समय बाद कोई दूसरी आपत्ति आ गयी, संकट मंडरा रहे हैं, क्योंकि हम अपने उपयोग को आत्मा में न मग्न करके बाहर में दौड़ा रहे हैं। यदि यह आत्मा अपनी स्वाभाविक कला खेले अर्थात् इस बाहर गये हुए उपयोग को लौटाकर अपने आपके ही स्वरूप में लीन कर दे, एकरस बना दे, सारे विकल्पों को तोड़कर निर्विकल्प स्थिति बना ले तो ये सारे संकट एक साथ समाप्त हो जाते हैं।

विशुद्ध आनन्द के स्मरण में भी प्रसन्नता—यह आत्मा एक दो सेकेण्ड को भी अपने सही स्वाभाविक स्वाधीन आनन्द का अनुभव करले तो इन दो एक सैकण्डों के अनुभव में ही वह सामर्थ है कि सारे दिन रात का समय प्रसन्नता में रह सकता है। भला अद्भुत, स्वाधीन आनन्द कुछ सेकेण्डों को भी आ जाये तो उसका स्मरण कहाँ जायेगा? चाहे वह आनन्द न रहे, पर याद तो रहेगी। उसकी याद में ही हमारे रात दिन का समय प्रसन्नता में ही बीत सकता है। हम सबका यह कर्तव्य है कि २४ घंटों में १०, १५ मिनट एक आत्मा के ध्यान के लिए, प्रभु के स्वरूप के विचार के लिए बैठें। इसके लिए नियमित समय दें। जैसे कि लोग कहते हैं कि काम इतना बड़ा पड़ा हुआ है कि धर्म के लिए टाइम नहीं मिलता। बजाये ऐसा सोचने के यों सोचें कि जो हमारा नियमित धर्म का समय है उससे यदि समय बचता है तो हमें अन्य कार्य करना चाहिए। यह मुख्य लक्ष्य रखना चाहिए। जिस बात में हमें संतोष का और ज्ञान का महान् बल मिलता है, उसको हम गौण कर दें और जिन बाहरी उपयोगों में से हम रिक्त हो जाते हैं, अटपट रहते हैं, वेदना अनुभव करते हैं, उन ही कार्यों को मुख्यता दें तो यह आनन्द का मार्ग ही नहीं है।

अपने सामर्थ्य के सदुपयोग का अनुरोध—हे आत्मन् ! तू यथार्थ वस्तुओं को नहीं जानता, इसलिए बाहरीपदार्थों में यह इष्ट है, यह अनिष्ट है, इस प्रकार की कल्पना करके इष्ट में आसक्ति बनाता है और अनिष्ट में द्वेष बनाता है। यों अपना काल व्यर्थ गँवाता है। तू अपने मन में शान्त दशा को प्राप्त हो। जब तक यह मरणकाल नहीं आता है तब तक तो इस श्रेष्ठ मन के कारण तेरे वश का सब कुछ है। जब तक कठिन रोग वेदना नहीं आती है, तब तक तो तेरे वश का सब कुछ है। जब सामर्थ्य है, तब जो योग्य काम है, धर्मसाधन है उसे तो कर और धर्म क्या करना? जैसे सत्य संतोष मिले, वही काम करना, इसी को ही धर्म करना कहते हैं। धर्म कहने से नहीं होता। धर्म से कष्ट नहीं होता है।

शान्ति से धर्म होता है और धर्म से शान्ति होती है—इस ही कारण अपना समय नियत करके एक या आधा घण्टा अवश्य धर्मध्यान में व्यतीत करना चाहिए। मुसलमान भाई लोग जहाँ कहीं भी होते हैं, अपनी नमाज के समय में तौलिया बिछा-बिछाकर नवाज पढ़ने लगते हैं। उन्होंने अपना नियम बनाया है। सो अपने धर्मपालन का नियम बनाओ। मान लो कि प्रभु पूजा अथवा स्वाध्याय तो किसी भी जगह कर सकते हैं, पर यह उत्साह होना चाहिए कि हमें अपने को समझना है, क्योंकि वही मैं आत्मतत्त्व शान्तिरस से भरा हुआ हूँ।

विवेकबल का पोषण—स्वाधीन आनन्द तो मेरा मेरे आलम्बन से ही प्रकट होता है। बाहरी चीजों की आशा करके शान्ति नहीं मिल सकती है। किसी भी पदार्थ की मेरे मन में आशा न जगे, ऐसा अपने ज्ञानबल को पुष्ट रखना चाहिए। मैं आत्मा स्वयं सत हूँ, परिपूर्ण हूँ, अधूरा नहीं हूँ। मैं अपने आपके द्वारा अपने आपको किसी न किसी रूप बनाया करता हूँ। मेरा किसी अन्य पदार्थ से कोई नाता नहीं है। सभी जीव असहाय हैं अर्थात् अपने उदय से अपनी स्थिति को लिए हुए हैं। ऐसे इस अशरण और असार संसार में कदाचित् पुण्ययोग से कुछ वैभव मिला, साधन मिला तो इसको पाकर हर्ष में मग्न होना विवेक नहीं है। जो पर के संयोग के समय में हर्ष में मग्न होता है उसको वियोग के समय में उस हर्ष से भी कई गुणा विषाद भोगना पड़ता है।

गृहस्थ का प्रथम तपश्चरण—गृहस्थ की ये ही तो दो विशिष्ट तपस्या हैं, जिनके बल पर यह सुखी रह सकता है। प्रथम तपश्चरण तो यह है कि जो भी समागम मिला है उसके प्रति अभी से यह ज्ञान बनाये रहे कि इसका किसी दिन वियोग जरूर होगा। जब वियोग होगा तो आपका अंतः बोल उठेगा—लो मैं तो पहिले से ही कह रहा था, पहिले से ही जान रहा था कि इसका वियोग जरूर होगा, बस वही समय आ गया है। उसका खेद कम हो जायेगा। जो समागम पाकर वियोग होगा ऐसी जानकारी नहीं बनाता है उसको वियोग के समय में बहुत क्लेश भोगना पड़ता है। पहिला तपश्चरण तो यह है कि पाये हुए समागम के प्रति यह धारणा रक्खो कि इसका वियोग अवश्य होगा। इस ही ज्ञान में फिर सब करामात भरी हुई है कि भविष्य में वह दुःखी न होगा।

गृहस्थ का द्वितीय तपश्चरण—गृहस्थ का आवश्यक दूसरा तपश्चरण यह है कि अपना जीवन धर्मसाधना के लिए समझें, विषयसाधनों के लिए न समझें। इस कारण जो भी परिस्थिति है, जो भी आय है उसही परिस्थिति के भीतर आधे में गुजारा कर लें और बाकी आधे में आधा तो विशेष अवसर के लिए संचित करें और उस चौथाई को दया, दान, परोपकार आदि कार्यों में खर्च करते रहें। जो अपनी आय के भीतर अपना खर्च नहीं बनाते। ज्यादा शौक शान और आवश्यकताएँ बढ़ाते हैं उनके धर्म में चित्त नहीं लग सकता, क्योंकि उस शान शौक की पूर्ति भी नहीं कर पा रहे हैं। वही काम अभी बहुत पड़ा हुआ है। अपना गुजारा साधारण पुरुषों की तरह करें और यदि वैभव आता है तो यह भी तो एक शृङ्खार है कि दीन दुखियों के उपकार में लगायें। खाया खोया बह गया, दशलाक्षणी पूजा में कहते हैं—जो तुमने शृङ्खार किया, यह शरीर चमड़ा सजाया अथवा भोग विलास किया, नाना प्रकार के उपभोग में व्यर्थ व्यय किया वह तो बह गया। क्या रहा? न उससे लौकिक यश रहा, न आत्मसंतोष रहा। दूसरी तपस्या गृहस्थ को करने को यह है कि अपनी आय के भीतर ही व्यवस्थाएँ बनाएँ।

गृहस्थ का जैनमार्गनुसरण—इन दोनों तपश्चरणों को करता हुआ गृहस्थी अपना यह निर्णय रखें कि मुझे ज्ञानार्जन करना है, वस्तुस्वरूप को समझना है, जैसा मेरा सहजस्वरूप है वैसा ध्यान बनाना है और निर्विकल्प स्थिति बनाना है। यही एक जैनमार्ग है। जिसने रागद्वेष जीत लिया है वह जिन कहलाता है।

वह कोई भी हो, ऐसे जिनप्रभु ने जो मार्ग अपनाया था वही मार्ग उनके शासन में बताया गया है। इन्द्रियों को संयत करे, आत्मा का अनुभव करें, इससे ही संसार के संकट दूर होंगे।

श्लोक (४९)

आयातोऽस्यतिसमङ्गं परवानाशासरित्वेरितः ।
किं नावैषि ननु त्वमेव नितरामेनां तरीतुं क्षमः ॥
स्वातन्त्र्यं ब्रज यासि तीरमचिरान्नो चेद् दुरन्तान्तक-
ग्राहब्याप्तगभीखक्तविषमे मध्ये भवाब्धेभवेः ॥ ४९ ॥

विषयाशाविषपान—यह जीव अनादि काल से आशा की नदी में बहता हुआ अब तक डावांडोल चल रहा है। विषयों की अभिलाषा एक ऐसा विषपान है, ऐसा एक विडम्बना का भाव है कि आशा में रहकर इस जीव की बुद्धि हर ली जाती है। विषयों की इच्छा तृप्त करने के लिए तीन लोक की सम्पदा भी आ जाये तब भी थोड़ी ही है। यह सम्पदा तो नियत है और इसके अभिलाषी अनगिनते हैं और प्रत्येक पुरुष समस्त सम्पदा को चाहता है। इसकी अभिलाषा में सीमा नहीं है। तब भला बतलावो आशा कैसे पूर्ण हो? अरे इन अभिलाषाओं से शान्ति कैसे प्रकट हो?

अनादिविडम्बना—हे मित्र! परवस्तु का अभिलाषी होकर इस आशा नदी में प्रेरित हुए अनादि काल से अनन्त जन्म मरण करते हुए तेरा अनन्तकाल व्यतीत हो गया है। इसका इस विडम्बना से व्यतीत हुआ समय सोचो तो कहीं आदि नहीं है। जैसे दिन रात में से बतावो सबसे पहिले क्या था? दिन था या रात थी? कुछ उत्तर ही न मिलेगा, क्योंकि न सबसे पहिले दिन था, न सबसे पहिले रात थी। यह रात दिन का क्रम अनादि से है। जैसे सबसे पहिले कोन मनुष्य था? आज जो बाप है क्या उसके बाप न रहा होगा? सभी अपने बाप से होते आये हैं। क्या कोई बाप कभी ऐसा भी हुआ है कि जिसका बाप कोई न था? जैसे यह संतति अनादि से चली आ रही है। ऐसे ही सब कुछ क्रम हमारे भ्रमण का जन्म-मरण का सब अनादि से चला आ रहा है। बड़ा गहन जाल है। शायद इस पर कुछ विश्वास न हो तो इस पर भी तो विश्वास नहीं हो सकता कि किसी ने एक दिन सब व्यवस्था बनायी, ढांचा बनाया, पैदा किया, यह तो बात बिल्कुल जंच भी नहीं सकती। किसने बनाया, कहां बैठकर बनाया, किस चीज से बनाया, उपादान क्या था? वहाँ भी तो अनेक तर्क चलेंगे। जो सत् है वह अनादि काल से है। हम आप सत् हैं तो अनादिकाल से ही चले आ रहे हैं, और चले आ रहे हैं आशा से प्रेरित हुए, नाना कल्पनाओं के क्लेशों को भोगते हुए आ रहे हैं।

आशानदी के तिरने का उपाय—यह आशारूपी नदी और किसी भाँति नहीं तिरी जा सकती है। यह तो केवल आत्मज्ञान से ही तिरी जा सकती है। जैसे अग्नि ईधन से कभी तृप्त नहीं हो। सकती है ऐसे ही यह आशा वैभव से कभी तृप्त नहीं हो सकती है। समस्त दुःख मिटाने का कोई उपाय है तो वह सम्यग्ज्ञान है, भेदविज्ञान है। समस्त परपदार्थों से भिन्न अपने ही सदेव के कारण जिस स्वरूप में मैं हूँ, उसही रूप अपनी

प्रतीति बने तो सब क्लेश मिटेंगे । एक इस अध्यात्म के ज्ञान के बिना कितना भी पर पदार्थों में अपने को अटकाया जाये तो दुःख दूर नहीं हो सकता है । इस कारण अब शीघ्र ही अपने सत्यस्वरूप को निहार करके स्वाधीन बनो । ये सब केवल विचारों की बात है । जब विचार में यह आया है कि मैं अमुक हूं और ऐसी पोजीशन का हूं, बस इस विचार के आने से ही उसके क्लेशजाल बढ़ने लग जाता है । यद्यपि यह भी बात आती है मन में, जो परिणमन बीतता है, गुजरता है उसे कहां तक ओझल किया जाये? फिर भी सम्यग्ज्ञानी पुरुष अन्तरङ्ग में यह विश्वास बनाये हैं कि मैं अमुक नहीं हूं, यह मेरी पोजीशन नहीं है, मैं देह से भी भिन्न केवल ज्ञानप्रकाशमान् सत् हूं—इतनी अन्तरङ्ग में श्रद्धा होने से क्लेशों में बहुत कमी आ जाती है ।

अपने सहजस्वरूप के निर्णय से ही क्लेशसमाप्ति—भैया! सिवाय सम्यग्ज्ञान के और कोई वास्तविक उपाय नहीं है कि क्लेश दूर हो सकें । करके भी तो देख डालो । किसी प्रकार का क्लेश हो, उसके उपाय भी अनेक कर डालें, पर उन उपायों से भी क्लेश शान्त हुए हों वह स्थिति नहीं मिलती, तृष्णा बढ़ती ही गयी, आशा बराबर बनती ही चली गयी । जो क्लेश बर्त रहा है उसे दूर करना है तो अपने आपके सहजस्वरूप का निर्णय करना होगा । जो पदार्थ भिन्न है उन्हें हम अपनाया तो जा नहीं सकता, क्योंकि वे भिन्न पदार्थ हैं, वे अपने ही परिणमन से, अपने ही सत्त्व से अपना ही सत्त्व बनायेंगे । हम यहाँ अपनी कल्पनाओं से अनुकूल प्रतिकूल उन्हें जानकर दुःखी हुआ करते हैं ।

पर के अपनायत की उन्मत्तता—जैसे कोई उन्मत्त पुरुष किसी सड़क के किनारे कुए के समीप बैठा हो, वहाँ अनेक पिपासु यात्रियों के ठहरे हुए मोटर तांगों को देखकर अपना मानें तो मोटर तांगा आदि से उतरकर कुएँ पर पानी पीकर मोटर तांगा लेकर यात्री तो चले जायेंगे, पर यह पागल बाद में रोवेगा कि हाय मेरी मोटर चली गयी, हाय मेरा तांगा चला गया । था उसका कुछ नहीं, पर कल्पना में एक पागलपन की बात बसा ली थी । ऐसे ही मोह के उन्मत्त पुरुष जो कुछ इसके सामने आये हैं—घर बार परिजन वैभव, ये सब उसके रोके तो रुक न सकेंगे, जब तक है, है, पर वियोग अवश्य होगा । होता ही है वियोग, होगा ही वियोग । सब कुछ देख भी लिया । अब जब इसका वियोग होगा तो चूँकि मान रक्खा था कि यह मेरा है तो उसे दुःखी होना पड़ेगा । बड़प्पन उसही का है जो यह मान ले कि जगत् में मेरा कहीं कुछ नहीं है । बात ऐसी ही है । काम नहीं चलता, सब कुछ जोड़ना पड़ता है, व्यवस्था बनानी पड़ती है, लेकिन ऐसा करते हुए भी तो सत्य बात से मुँह न फेरना चाहिये ।

आकिञ्चन् परमतत्त्व से ही समृद्धिप्रवाह—भैया! अपने स्वतन्त्र स्वरूप का यथार्थ ज्ञान बनाये रहें तो उस क्लेश में अवश्य कमी होगी । यह पुरुषार्थ अपने हाथ का है । जब चाहे ज्ञान से विचार लो, और जैसा अपना आकिञ्चन्यस्वरूप है उसरूप प्रतीति कर लो तो क्लेशजाल दूर होगा । अपने को आकिञ्चन्यस्वरूप मानने से अर्थात् मेरा कहीं कुछ नहीं है, मैं तो केवल ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र हूं—ऐसे यथार्थ सहजस्वरूप में अपने को मान लिया जाये, आकिञ्चन्य देख लिया जाये तो यहाँ से सुख समृद्धि उत्पन्न होगी । मेरा है कुछ ऐसा मानने पर तो क्लेश ही मिलेगा । एक कवि ने प्रभु के स्तवन में कहा है कि हे भगवान् आप आकिञ्चन हैं, आपके

देह तक भी नहीं है, परिजन वैभव धन पैसा कुछ भी तो नहीं है। केवल आप शुद्ध ज्ञान की मूर्ति हो, हां तुंग उदार प्रकृति के हो। आप अकिञ्चन् हो, फिर भी आपका जो स्तवन करते हैं उन्हें आनन्द का लाभ होता है और जो सकिञ्चन बने फिरते हैं मोहीजन, उनका आश्रय करने से आनन्द का लाभ नहीं मिलता। विशुद्ध आनन्द की बात कही जा रही है। यह बात ठीक है। इसका उदाहरण भी देखो। पर्वत अकिञ्चन् है, पर्वत पर जल नहीं है, लेकिन पर्वत पर जल का एक भी बूँद नहीं मिलता, फिर भी नदियां पर्वत से ही निकलती हैं। समुद्र जल से लबालब भरा हुआ है किन्तु समुद्र से कोई नदी नहीं निकलती। जो चीज तुंग आकिञ्चन्य से प्राप्त हो सकती है वह समृद्धिशाली से नहीं प्राप्त हो सकती है। शान्ति का, आनन्द का सम्बन्ध ज्ञान से है, धन और धनिकों से नहीं है।

तृष्णानदी के तीर पहुंचने का अनुरोध—हे आत्मन्। तू आशा की नदी में अनादिकाल से बहता डुलता चला आ रहा है। यदि तू अपना पुरुषार्थ न कर सका तो संसारसमुद्र में गोते खाने पड़ेंगे। इस कारण इस ज्ञानबल के द्वारा तुम आशानदी के तीर पहुंच जाओ। एक ब्राह्मण ने अपनी कन्या के विवाह में खर्च के लिए राजा से कुछ मांग की। राजा ने उत्तर दिया कि कल तुम जो चाहो मांग लेना। ब्राह्मण घर आया, शाम को खाट पर लेट गया। अब उसके मन में कल्पनाएँ दौड़ने लगीं। मैं राजा से एकदम १००) ही मांग लूँगा उसकी दृष्टि में १००) ही बहुत थे, फिर सोचा कि १००) तो अमुक पड़ोसी के पास भी है, उससे क्या गुजारा होगा? हजार मांग लूँगा। हजार तो अमुक सेठ के भी पास हैं, हम तो लाख मांगेंगे। फिर लखपतियों पर दृष्टि गयी। हम तो करोड़ मांगेंगे। रात के १ बज गए, २ बज गए, कल्पनाएँ ही चलती गयी। करोड़ रुपये भी हो गये तो जब तक राज्य शासन हाथ में न हो तब तक वकत क्या है? हम तो आधा राज्य मांगेंगे। फिर सोचा कि आधा राज्य भी मिल गया तो क्या आदर रहेगा। प्रजा के लोग हमारे आकर्षण में न आयेंगे। हम तो सारा राज्य मांग लेंगे। अब प्रातः समय होने लगा। भजन का समय आया, भजन में बैठा, अब बुद्धि उसकी व्यवस्थित बनी। ओह मैंने क्या मांगना सोच लिया? राज्य में तो बड़ा क्लेश है, निद्रा भी नहीं आती। हम पूरा न मांगेंगे आधा ही राज्य मांग लेंगे। फिर सोचा कि दुःख तो वही रहेगा। राज्य न लेंगे, करोड़ रुपये ही ठीक है। करोड़पतियों को भी बड़ा क्लेश है। प्रत्येक कमरे में टेलीफोन लगा होगा, संडास जावे। वहाँ भी टेलीफोन लगा होगा। बड़ी विषम स्थिति है। करोड़ नहीं लाख ही ठीक है। लखपतियों का दुःख देखा तो सोचा कि लाख न मांगेंगे, हजार ही ठीक है। फिर सोचा कि १००) ही ठीक है। इतने में राजा सामने से निकला, कहा कि तुम्हें जो मांगना हो सो मांग लो। ब्राह्मण बोला—महाराज मुझे कुछ न चाहिए आपसे क्योंकि जब तक मांगा भी न था कुछ तब तक तो रात भर नींद नहीं आयी, केवल बात ही आपसे हुई थी और कुछ मांग लें आप से तब तो न जाने क्या होगा? महाराज माफ करो, जो हमारी स्थिति है वही हमारे लिए भली है। बात भी यही है।

जीवन का लक्ष्य धर्मलाभ—जिस गृहस्थ की उसके भाग्य के अनुसार जो स्थिति मिली है उस स्थिति में ही गुजारा ही तो करना है, कर लो। विषयों का भोगना, शौक शान बढ़ाना, इसके लिए जीवन नहीं है।

जीवन है धर्मपालन के लिए । यह तो एक शरीर रखने का विधान है । ऐसा साहस गृहस्थ को करना चाहिए । मैं आशा न बढ़ाऊं, किन्तु जो आता हो वह आये, हम में तो वह कला है कि जो भी आय होगी इसी में व्यवस्था बनाकर संतोष कर लेंगे और धर्मपालन में हम अपना पुरुषार्थ करेंगे । यह हममें कला पड़ी हुई है, ऐसा साहस करके सद्गृहस्थ आशा से दूर रहते हैं और अपने आत्मा के ज्ञान श्रद्धान् और ज्ञाताद्रष्टा रहने रूप आचरण में अपने को लगाते हैं । यह जगत्, यह समागम, यह दृश्यमान् सब कुछ एक अजायब घर की तरह हैं । जैसे अजायबघर में दर्शकों को केवल देखने का हुकुम है, कोई चीज उठायें नहीं, किसी चीज को छुवें नहीं । यदि कुछ चीज उठाता है कोई तो वह गिरफ्तार होगा, उसे दंड मिलेगा, कैद मिलेगा । ऐसे ही यह सब कुछ जो मिला हुआ है यह सब अजायबघर है । इसको देखने का हुकुम है, जानने का हुकुम पर आसक्त होने का हुकुम नहीं है प्रभु का । तुम किसी बाह्य पदार्थ में आसक्त मत हो, केवल ज्ञाता द्रष्टा रहो । प्रयोजनवश इनका उपयोग भी कर लो, लेकिन इनमें महासक्त मत हो । यह ही मेरा सब कुछ है, ऐसा अपना लगाव परिजन में वैभव में मत करो । यदि यह लगाव रहेगा तो नियम से क्लैश होगा । बुद्धिमानी इसमें नहीं है ।

स्वपरविवेचन का विवेक—भैया ! विवेक नाम भेदविज्ञान का है । सबसे निरञ्जन निज ज्ञानस्वरूप को निहारो । यह आत्मा ज्ञानमय है । थोड़ासा भी झुकाव बनाने से, कुछ ज्ञान का उद्यम करने से यह स्पष्ट ज्ञान में आ जाता है, पर उसके लिए इतना साहस होना प्रथम आवश्यक है कि अन्य पदार्थों को, भिन्न पदार्थों को हम अपनाएँ नहीं, उनसे उपेक्षा रखें और अपने आपमें आपको जानने के उत्सुक बने तो अवश्य आत्मज्ञान हो सकता है । यह आत्मा कल्पवृक्ष की तरह है । इसही में सुख चाहें तो सुख मिलेगा, दुःख चाहें तो दुःख मिलेगा । संसार में रुलने का यत्न होगा तो रुलेंगे, संसार से छूटने का यत्न होगा तो छूट जायेंगे ।

आत्मकल्पतरु—एक यात्री था । गर्मी के दिनों में नंगे पैर कहीं सफर कर रहा था । दोपहर का समय, तेज धूप लग रही थी । उसकी यह इच्छा हुई कि सङ्क के किनारे कोई अच्छा पेड़ मिल जाये । वह कुछ दूर चला, उसे एक छायादार वृक्ष मिल गया । उसके नीचे वह पहुंच गया, वह वृक्ष था कल्पवृक्ष । उसे मालूम न था । पेड़ के नीचे छाया में वह आराम करने लगा । कुछ देर में सोचता है कि थोड़ी हवा और चलती तो कुछ विशेष आराम मिलता । हवा चलने लगी । सोचता है कि हवा तो चलने लगी, पर थोड़ा पानी मिल जाता तो प्यास बुझा लेते । पानी भी आ गया एक गिलास में । अब सोचता है कि यदि कुछ फल वगैरह नाश्ता करने को मिल जाते तो अच्छा था । एक थाल में वह भी आ गए । अब सोचा कि यहाँ कोई आदमी भी नहीं है, यह सब कहाँ से आ गया? कोई भूत तो यहाँ नहीं रहता । लो भूत भी सामने आ गया । सोचा कि मुझे खा न जाये, लो खा भी गया । तो जैसे उसने जो भी सोचा वैसा ही हुआ—ऐसे ही जानों कि जो कुछ सुख-दुःख ढंग प्रसंग जितने भी हमें मिलते हैं, वे हमारे आत्मा से ही मिलते हैं ।

इच्छा की पूर्ति का उपाय इच्छा का अभाव—अच्छा बतावो, हमारा सम्मान किस जगह है ? हमारी कल्पना में । अपमान किस जगह है? हमारी कल्पना में । हमारा सुख किस जगह है ? हमारी कल्पना में

और दुःख कहां है ? वह भी हमारी कल्पना में । खूब निर्णय करके देख लो । किसी चीज की आशा लगी हो, चीज मिल जाये, सुखी होना हो तो यह चीज के मिलने से सुख नहीं हुआ, किन्तु उस वस्तु के मिलने का निमित्त पाकर जो कुछ हमारी आशा का अभाव हो गया, इच्छा नहीं रही उसका सुख मिला है । तो सुख मेरे आत्मा से ही मिला, वस्तु से नहीं मिला । इच्छा की पूर्ति किसे कहते हैं ? क्या बोरे में जैसे अनाज भरा जाता है ऐसे ही आत्मा में इच्छा भरते जावो तो इच्छा की पूर्ति हो जायेगी, ऐसा है क्या इच्छा की पूर्ति होती है इच्छा के न रहने से । चाहे यह कह लो कि हमारी इच्छा की पूर्ति हो गयी, चाहे यह कह लो कि हमारी इच्छा का अभाव हो गया, दोनों का एक ही अर्थ है ।

इच्छा के अभाव से सुख का प्रादुर्भाव—जितने भी सुख होते हैं वे इच्छा के अभाव से होते हैं । हर प्रसंग में विषयों के भोग में भी मन की कल्पनाओं के यद्य में भी जब भी सुख होगा तब इच्छा के अभाव से होगा । चीज के मिलने से सुख न होगा । पर चीजों में मोह लगा है ना तो सुख तो हुआ इच्छा के न रहने से और मान लिया जाता है कि चीज के मिलने से सुख मिला । इच्छा हर्ई सिनेमा देखने की तो जब तक इच्छा बनी रहेगी तब तक क्लेश रहेगा, सिनेमा देख लिया लो क्लेश मिट गया । तो यह मोही समझता है कि सिनेमा के देखने से मेरा क्लेश मिटा, वस्तुतः सिनेमा के देखने पर अब मुझे सिनेमा देखना है, ऐसी इच्छा नहीं रही । उस इच्छा के अभाव का सुख है । यदि यह विवेकी सिनेमा देखने के पहिले ही सिनेमा देखने का प्रोग्राम रद्द कर दे, उस इच्छा को खत्म कर दे तो देखे बिना भी उससे अधिक सुख नजर आयेगा । प्रत्येक स्थिति में इच्छा के अभाव का सुख होता है ।

आत्मज्ञान द्वारा आशा से निवृत्ति—भैया ! सब कुछ अभीष्ट तत्त्व अपने आत्मा में हैं, आत्मा से प्रकट होते हैं । उस आत्मा को यथार्थ पहिचान लेने पर ये सारे कल्पनाओं के क्लेश दूर हो जाते हैं । देख, इस आशानदी में बहता हुआ तू जल्दी आत्मज्ञान से इसे तिरकर पार हो जा, नहीं तो ऐसे भव समुद्र में तू गिरेगा जहाँ जन्म जरा मरण ये अनेक यम काल मुँह बाये पड़े हुए हैं तुझे निगलने के लिए । तू आत्मज्ञान बना और अपने आपको इस आशा से दूर कर, इसही में तेरा कल्याण है ।

श्लोक (५०)

आस्वाद्याद्य यदुज्जितं विषयिभिर्व्यावृत्तकौतूहलै-

स्तदभूयोऽप्यविकुत्सयन्नभिलषस्यप्राप्तपूर्व यथा ।

जन्तो ! किं तव शान्तिरस्ति न भवान् यावद्दुराशामिमा-

मंहः संहतिवीरवैरिपृतनाश्रीवैजयन्तीं हरेत् ॥ ५० ॥

भोगों की उच्छिष्टता—हे आत्मन् ! इस समय जो तुझने पाया है वह क्या है? कुछ इसकी सच्ची खबर तो रख । जो कुछ भी भोगों के साधन पाये हैं, वे सब विषय समागम दूसरों के द्वारा छोड़े हुए हैं । जैसे रुपया पैसा दूसरों के छोड़े हुए ही तो हाथ आते हैं, ऐसे ही ये सारे समागम पञ्चइन्द्रिय के विषय दिखने वाले रूप,

स्वाद में आने वाले रस, गंध में आने वाले गंध, सुनाई देने वाले शब्द और जो भी चीज छुई जा सकती है, वे सब दूसरों ने अपना कौतूहल पूरा करके अब प्रयोजन नहीं रहा, सो छोड़ दिये। उनके छोड़े हुए ये सब जूठे भोगसाधन अपने को मिले हुए हैं। दूसरों के ही द्वारा भोगे और छोड़े नहीं हैं, खुद ने भी अनेक भवों में भोगे और छोड़ दिये हैं। वे ही भोग आज मिले हैं। इस संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो जीवों के द्वारा अनन्त बार भोगा न गया हो। नई चीज यहाँ कुछ नहीं है। खुद में भी अनेक बार कई भवों में जो कुछ भोगे, वे ही आज भी मिल गये हैं। अब इन उच्छ्वष्ट भोगों से तुझे घृणा नहीं आती, ये रति के योग्य नहीं हैं।

मोही के उच्छ्वष्ट भोगों में अप्राप्तपूर्वता का भ्रम—एक कल्पना करो, कुछ वर्ष पहिले जो भी भोजन किया हो वह भोजन मल बनकर निकल गया, कूड़ा बन गया, खेत में गया, वहाँ गेहूं वगैरह अनाज बोया, वे परमाणु गेहूं के पेड़ के रूप में निकले, फिर उन्हें बाजार से खरीदा गया, फिर वे ही भोजन में आ गये। यद्यपि पर्याय बहुतसी बदल गयी है, लेकिन देख, जो भोग तूने पहिले भोगे, वे ही भोगे हुए और उनका आस्वादन ले लेकर छोड़ गए सामने पुद्गल है, नई चीज नहीं है। विषयों के लोलुपियों ने विषयों का स्वाद ले लेकर और अपना दिल भरकर, अपना कौतूहल अपनी इच्छा पूरी करके सब छोड़ दिया। वे ही छोड़े हुए ये सब साधन हम आपको मिले हैं, लेकिन हे जीव ! परायी जूठी चीज पाने में, भोगने में तुझे ग्लानि नहीं आती। सम्पदा में भी वही बात लगा लो। अनेक धनियों ने सम्पदा को कमाया, अपने जीवन में जो कुछ कौतुक कौतूहल बनाया उसकी पूर्ति की और अन्त में इनको छोड़ा गया। चाहे अपने मन से छोड़कर छूट गये हों और चाहे मरने पर छूट गये हों, छूटना तो सब ही को है। तो यह सम्पदा जो दूसरों ने भोगकर, अपना कौतूहल बनाकर छोड़ दिया था वही सम्पदा, वही सामग्री हमें प्राप्त हुई है। तू इस सामग्री को इस तरह दृढ़ता के साथ अपना रहा है जैसे मानों पहिले कभी पाया ही न था, इतना नया मान रहा है।

भ्रान्त धारणाओं से सुलझन का व शान्ति का अलाभ—भैया ! उच्छ्वष्ट भोगों को भी नया मानने की बात मोह में होती ही है। वैसे भी देखो। रोज भोजन करते हैं, वही दाल रोटी चावल कल भी खाया, आज भी जब खाने को बैठे होंगे तो आज भी नया लगा होगा। कल जब खायेंगे तो वही नई चीज मालूम पड़ेगी। अरे अनेक बार तो खाया, भले ही पेट भरने के लिए भोगना पड़ता है, खायें, पर यह अभूतपूर्व नई चीज है, नया स्वाद है—ऐसी प्रतीति तो न बनाएँ। लोग मोह में ऐसी ही प्रतीति बनाते हैं। जो कुछ समागम पाया है हमने और औरों ने भी, अनेक बार स्वाद लेकर भोगकर छोड़ा है, अपना कौतूहल दूर किया है। अब तू उसमें कुछ भी ग्लानि नहीं करता और तू उसे यों मानता है जैसे कि मानों अब तक कभी पाया न हो, अब नई चीज पायी है, ऐसा असक्त होकर। तृष्णा बढ़ाकर तू इन विषयों को भोग रहा है। अरे जंतु ! क्या इन भोगों के भोगने से तुझे कभी शान्ति हुई है?

संसारी जीवों का जन्मुपना—जन्मु उसे कहते हैं जो भव-भव में जन्म लेता रहे। यहाँ व्यवहार में जंतु कीड़ों मकोड़ा को बोलते हैं। यहाँ तो बड़े भी जीव जंतु है। जन्म मायने हैं जो जन्म लेता रहे। जिसमें

जन्म लेने की प्रकृति पड़ी हो उसका नाम जंतु है। कहीं मनुष्यों की कोई मीटिंग हो रही हो, सभा हो रही हो और कोई ऐसा कहे—देखो भाई कितने प्राणी आ गये, तो इतने शब्द सुनकर कुछ ऐसा लगता होगा कि हम को प्राणी कहा जा रहा है। हम तो मनुष्य हैं। अरे प्राणी सभी संसारी जीव कहलाते हैं। मनुष्य हो या पशु पक्षी कीड़ा मकौड़ा हो तो ऐसे ही जंतु प्रत्येक संसारी जीव कहलाते हैं। हे जंतु ! इन भोगों के भोगने से कुछ शान्ति हुई क्या? बल्कि भोगों के भोगने से अपनी शक्ति घटी ।

शब्द के भोगसेवन से भी रिक्तता का अनुभव—भैया ! चाहे शब्द सुनने का भोग भोगे, खूब रागपूर्वक, प्रीतिपूर्वक शब्दों को सुनने का भोग भोगने के बाद कुछ रीतापनसा नजर आता है। जैसे मानों में सब कुछ खो कर जा रहा होऊँ । अभी तो एक शब्द सुनने की बात पर ही कह रहे हैं। जैसे रात भर संगीत हुआ, खूब जमाव जमा, रात के २ बजे तक जमाव जमा अच्छे राग रागनियों से, मगर जब वह जमाव खत्म होता है तब कौतूहल व्यावृत्त हो जाता है, दिल भर चुकता है तो उठने को जी चाहता है। भाई बंद करो, २ बज गये। उस समय उठकर जब चलते हैं तो ऐसा लगता है ना कि रीते से जा रहे हैं, कुछ खो सा दिया है। यह शब्दों के भोग की बात कह रहे हैं। ऐसे सभी भोगी में खोया हुआ सा लगता ही है ।

रूप और गन्ध के भोगसेवन से भी रिक्तता का अनुभव—कोई मनोहारी रूप देखने में लोलुप होकर खूब देखता रहे, दिल भरकर, छुपकर या सीधा बिना छुपे किसी रूप को देखे, सिनेमा, थियेटर को देखे तो देख चुकने के बाद वह कुछ रीता सा है जैसे मानों उसने कुछ खो दिया हो। इस तरह का अनुभव करता हुआ घर भागता है। बहुत ध्यान से इस बात को मन में समझना चाहिए। भले ही उन भोगों के भोगने के समय, रूपों के देखने के समय शब्दों के सुनने के समय कुछ मौज आ रही हो, पर जब उन भोगों का कौतूहल पूरा हो जाता है, उत्सुकता समाप्त हो जाती है तब यह रीता खोया हुआ सा अपने को अनुभवता है। यों ही गंध दुर्गन्ध की बात है ।

रस के भोगसेवन से भी रिक्तता का अनुभव—ऐसे ही भोजन स्वादिष्ट खानपान की बात में भी रीतापन अनुभूत होता है। स्वादिष्ट भोजन की रुचि यदि है तो ऐसी याचना दीनता चाहे अपने घर में भी क्यों न करे, भोजन कुछ न कुछ होता है। भोग भोगना हीनता, याचना और कुछ रीतापनसा अनुभवन इन दुर्दशाओं को लिए हुए होता है। और फिर दिल भरकर स्वादिष्ट भोजन खा चुकने के बाद यह तृप्त नहीं होता, संतुष्ट नहीं होता, किन्तु मानों अपना बल खो देता है, अब भोग नहीं सकता, बल ही नहीं रहा है, छोड़ना पड़ा है और बाद में इसका परिपाक कठिन होता है, अफारा चढ़े, जुकाम हो, दर्द हो, कितनी ही पीड़ाएं सहनी पड़ती हैं और फिर ये सभी भोग तेरे द्वारा बारबार भोगे गए हैं और छोड़े गए हैं। इन जूठे पौद्गलिक भोगों में तू अज्ञानी होकर इतनी उत्सुकता, इतनी स्पृहा क्यों है ?

स्पर्श के भोगसेवन से भी रिक्तता का अनुभव—अहो इस चेतन अचेतन विषयों के भोगने के कौतूहल से तूने अपना सब कुछ ज्ञान खो दिया है, हस्तगत कुछ नहीं हुआ। कुछ पुण्य कमाया था उसे खो दिया, मिला कुछ नहीं। भोगों से विरक्त होकर अपने को ज्ञानमात्र अकिञ्चन् अनुभव में लेने से अनुभव होगा कि हमने

कुछ पाया । मौलिक चीज, आनन्द का निधान मेरा भगवान् मेरे निकट है वह मुझे मिले तो ज्ञानबल बढ़ता है, आत्मबल रहता है । मोहीजन सोचते हैं कि हम भोगों को भोग रहे हैं । हो क्या रहा है वहां कि यह खुद भोगों से भुगकर रीता का रीता रह गया है, लाभ कुछ नहीं हुआ, हानि ही उठाकर जा रहे हैं । जैसे जो मनुष्य अन्यायी होते हैं, दूसरों को सताने वाले या क्रोधी या जिनकी अप्रिय बात निकले और वह भी उज्ज़ड़ जैसा, जिसका प्रेम भी अनर्थ के लिए हो, ऐसा व्यवहार हो, उज्ज़इपन हो तो जीवन से जीने के बाद मरने पर वह भी खाली गया । लोक के मनुष्य भी उसे खाली रीता अनुभव करते हैं । वह कुछ न कर सका पूर्वभव की एक कमायी यों ही खोकर चला गया । भोगों के भोगने में कुछ अपना ही खोया जाता है,, मिलता कुछ नहीं है । स्पर्शन इन्द्रिय का भोग भी व्यर्थ का है । इसमें अपना वचन बल भी खोया, मनोबल भी खोया, दूसरों के आगे कायर कातर भी बनना पड़ा, इसमें तो स्पष्ट ही है कि अपना सब कुछ खो दिया ।

आशा के अविजय में शान्ति की असंभवता—हे आत्मन् ! एक तो ये पञ्चइन्द्रिय के विषय भोगने में क्लेशकारी है और फिर ये तेरे ही द्वारा अथवा अन्य जीवों के द्वारा बारबार भोगकर छोड़े गये समागम हैं, इनमें तू प्रीति मत कर । जब तक अपनी दुराशा जो कि पाप बैरियों की ध्वजा के समान है । जैसे बैरी सेनावों की पता का जब तक फहराती रहे तब तक सेना की निर्बलता समझें, ऐसे ही जब तक यह आशा की ध्वजा फहराती रहे तब तक जीव के पाप बैरी प्रचंड है, अनेक पाप बैरी उद्घण्डता मचा रहे हैं, ऐसा निश्चित समझें । इस आशा को तू जब तक नष्ट न करेगा तब तक तेरे को शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती है । संसार, शरीर और भोगों से विरक्ति हो तो तुझे लाभ ही लाभ है, शान्ति ही शान्ति है ।

विवेकी जनों की सम्पदा से उपेक्षा—पुण्यवान् ज्ञानवान् पुरुष इस सम्पदा की ओर झुकते नहीं हैं, आकर्षित नहीं होते, तो यह सम्पदा उन ही पुण्य आत्मा जनों के पीछे-पीछे फिरती है और जो लोग आशा करके इस सम्पदा को लक्ष्मी मानकर, देवता मानकर नमस्कार करें, पूजा करें, हाथ जोड़े, आशा करें उनके पास यह फटकती भी नहीं है । मत फटको । आनन्द सम्पदा में नहीं है, ज्ञान में है । सम्पदा पाकर भी जो लोग आनन्दमग्न हो रहे हों, वे भी ज्ञान के प्रताप से आनन्दमग्न है सम्पदा के कारण नहीं । जिनके नहीं है सम्पदा और ज्ञानबल विशेष हैं वे सम्पदा के बिना भी आनन्दमग्न रहा करते हैं । देख इस आशा को दूर कर, मन में इच्छा न कर कि मैं बहुत अच्छा शृङ्खार करूँ, अच्छे कपड़े, अच्छे गहने पहिन, अच्छी शकल सूरत बनाऊँ । खुद अपने आपके घर में अपने आपमें तो जैसा चाहे रहे । कहीं नाक जा रही, कहीं लार, कहीं ओठ और जहाँ चार आदमियों में जाना है, चार को देखना है तो मुँह धोकर तेल लगाकर साफ चिकनी सकल बनाकर जाना, उठना बैठना—ये सब कौन करा रहा है? यह आशा, मोह पिशाच मूढ़ता व्यामोह इन सब खेलों को करा रही है । यह तो साधारणसी बात कही है, अपने आपको बड़ा शौक शान सजावट शृंगार दिखावट इनको अपने मन में न रखें । मानव के नाते, गृहस्थ के नाते जो कुछ पहिनना ओढ़ना पड़ता है वही शोभा के लिए काफी है । बनावट करके जो कुछ किया जाता है वह तो हास्य के लिए है, शोभा के लिए नहीं है । तू इन समागमों को पाकर इनमें मग्न मत हो । इनसे शान्ति न मिलेगी ।

भैया ! शान्ति का उपाय भेदविज्ञान है जिसके उपयोग में भेदविज्ञान जगा है, शरीर जुदा है, मैं जुदा हूँ, मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, सब न्यारे है मैं तो केवल अपने आपमें हूँ—यों भेदविज्ञान जिनके उपयोग में जगा है उनका चित्त सदा शान्त शीतल रहता है। जो अज्ञान से प्रेरे हैं, मोह के सताये हैं, वे जीव हर जगह दुःखी रहते हैं। कौन दूसरे को दुःख देता है? अपनी मूढ़ता से अपने ही विषयकषायों में लिपटकर प्राणी दुःखी हुआ करते हैं। हे आत्मन् ! अपने उस सहजस्वरूप की संभाल कर, जो त्रिकाल है, शाश्वत है, तुझे सुखी करने के लिए निरन्तर तेरे घट बस रहा है। यह कारणपरमात्मा सहज दयालु है, इसका विरद स्वभाव है, यह सदा तुझे सुखी करने के लिए तेरे अन्दर है। उस प्रभुता के स्वरूप की ओर तू दृष्टिपात भी नहीं करता और अपना समस्त बल लगाकर इन मोही प्राणियों में, इन अचेतन भोगों में तू न्यौछावर हुआ जा रहा है। विराम ले, अपनी भूल को पहिचान। एकदम कुमार्ग पर सीधा वहां मत चला जा। देख दूसरे की देखा देखी ठीक नहीं है, भेदविज्ञान की भावना कर, इससे शान्ति मिलेगी।

आशा की अप्रयोजकता—इस जगत् में सभी पड़ोसी प्रायः करके मोह के प्रेरे हैं। सब विषयों की होड़ में आगे बढ़ते चले जा रहे हैं। तू उनकी होड़ मत कर। उनकी देखादेखी अपने भीतर की कल्पनाएँ और ममता को न बढ़ा, विराम ले। अरे तुझे लोगों ने नहीं पहिचान पाया तो क्या हो गया? धन वैभव तू अधिक कमाने की इसीलिए तो चाह करता है कि लोग मुझे कुछ समझें। हां, हम भी कुछ हैं। अरे लोगों ने न समझ पाया तो तेरा कुछ लुट गया क्या? तू लुट गया इसमें कि लोगों को समझाने के लिए अपना उपयोग कर रहा है, अपने को कष्ट में डाल रहा है। न धर्म करने को समय है, न सत्संग का समय है, न ज्ञानार्जन का समय है, रात दिन वही निन्यानवे का फेर बना रहता है, तृष्णा बनाये रहता है। अरे भैया ! जितना तेरे पास है यह क्या गुजारे के लिए कम है, लेकिन मोह का ऐसा नाच है कि उसे पर्याप्त ही नहीं समझता। कदाचित् पाप का उदय होता और जितना मिला है उसका चौथाई तेरे पास होता तो क्या गुजारा न चलता? गृहस्थ का यह प्रथम आवश्यक काम है कि जो कुछ मिला है उसमें यह अनुभव करे कि यह तो मुझे गुजारे से भी कई गुणा अधिक मिला है। मुझे तो इतनी सम्पदा की भी जरूरत न थी। सब सोच सकते हैं ऐसा। कुछ अपना विवेक जगायें, है सबके पास आवश्यकता से अधिक। जीवन में आवश्यकता की कोई लिमिट नहीं है, जितने में संतोष किया जाये। जितना मान्यता में आ जाये वही आवश्यकता है। आशा को त्याग दें और धर्मधारण की ओर अधिक दृष्टि दें।

आशापरिहरण का अनुरोध—अपने आत्मा का सच्चा श्रद्धान् ज्ञान और आचरण यही है रत्नत्रय। यही है आशा से दूर रहने की स्थिति। तू आशा को त्याग दे तो इससे शान्ति प्राप्त होगी। जब तक तू इस आशा को न तोड़ेगा तो यह पाप बैरी उद्दण्ड रहेगा, तुझे शान्ति न रहेगी और फिर ये भोग जूठी चीज हैं। तूने भोगकर छोड़ा, दूसरों ने भोगकर छोड़ा। इन जूठे भोगों में तू रागी मत बन। इस जगत की माया को असार जानकर इनसे विरक्त रहने की प्रकृति बना और अपने आपमें बसे हुए शाश्वत सनातन ज्ञान सुधारस का पान कर। इससे तू समस्त संकटों से दूर हो जायेगा।

श्लोक (५१)

भङ्गक्त्वा भाविभवांश्च भोगिविषमान् भोगान् बुभुक्षुर्भृशं ।
 मृत्वापि स्वयमस्तभीतिकरुणः सर्वज्जिधांसुर्मुधा ॥
 यद्यत् साधुविगर्हितं हतमतिस्तस्यैव धिक् कामुकः ।
 कामक्रोधमहाग्रहाहितमनाः किं किं न कुर्याज्जनः ॥ ५१ ॥

मुख्यजीवों में परतत्त्वों की प्रीति का कारण—संसारी जीवों में जो ज्ञान और आनन्द प्रकट होता है वह इन्द्रियों के सहारे प्रकट होता है। इन्द्रियों के निमित्त से सुख मिलने के कारण इस जीव की इन्द्रियों में प्रीति होती है और इन इन्द्रियों द्वारा होने वाले ज्ञान के आश्रयभूत जो बाह्यपदार्थ है, जिन्हें भोग विषय कहते हैं उनमें भी प्रीति होती है। सांसारिक सुख मिलने में द्रव्य इन्द्रिय, भावेन्द्रिय और विषयभूत पदार्थ—इन तीन का सम्बन्ध होता है तब सुख की कल्पना बनती है। द्रव्येन्द्रिय तो जो शरीर में प्रकट है, कान, आंख, नाक, जिह्वा त्वचा ये तो द्रव्येन्द्रिय हैं और इन इन्द्रियों के माध्यम से जो विकल्प बनते हैं, ज्ञान किया जाता है वह विकल्प है। भावेन्द्रिय अर्थात् ज्ञानइन्द्रिय, और जिस पदार्थ का विचार करके ऐसा ज्ञान और आनन्द बनता है वह पदार्थ कहलाता है विषय। मोही जीव की उन तीनों में प्रीति होती है। इसी प्रीति के कारण मोही जीव विषयान्वय हो जाते हैं।

भोगों की विषमता—इस जीव ने इन भोगों को भव-भव में भोगे। ये भोग बड़े विषम हैं, सर्प डसे तो एक बार मरण होता है, किन्तु इन भोगों की प्रीति से डसा हुआ प्राणी भव-भव में जन्म और मरण करता है। ऐसे भोगों की जिनके अभिलाषा जग रही है, ऐसे ये संसारी जीव अपनी होनहार बिगाड़ते हैं और मिथ्या विषयों को ग्रहण करके समस्त सुखों का घात करते हैं। मोही जानता है कि मैंने भोगों को भोगकर सुख प्राप्त किया है, इसने तो उल्टा भोगों पर दृष्टि होने से जो आत्मा में अनन्त आनन्द का स्वभाव था उसका घात किया गया है। यह संसारी मोही प्राणी अविवेकी है, किसमें हित है, किसमें अहित है? इसका कुछ विवेक नहीं जग रहा है। रागद्वेष मोह इन कल्पनाओं में अहित भरा है। लोग इन्हें हितरूप मानते हैं। कल्पना करो कि अचानक ही अभी देहान्त हो जाये तो क्या रहा इसका? यह तो यहाँ से निकलकर जहाँ गया सो गया। इसका यहाँ कुछ भी नहीं रहा। पर जितने दिन और जिन्दा है उतने दिन मोह और राग में आगे बढ़-बढ़कर अपना घात किए जा रहा है।

निवृत्ति की आवश्यकता—जैसे लोग व्यापार करके अथवा सर्विस करके अन्त में कभी तो निवृत्त होते हैं, यों ही समझिये कि गृहस्थ को सब कुछ संभालते हुए भी इस ही जीवन में कभी तो इनसे निवृत्त होना चाहिए। जैन सिद्धान्त में यह प्राचीन परम्परा थी कि जब घर के लड़के लोग समर्थ हो जाते थे तो बिरादरी के लोगों को बुलाकर उन लड़कों को कार्यभार का तिलक कर दिया जाता था। अर्थात् उस दिन से अब पिता गृहभार से निवृत्त हो गया। अब धर्मध्यान में ही अधिक समय व्यतीत करेगा। अब तो बहुत आयु

व्यतीत हो जाने पर भी, बड़ा बुढ़ापा हो जाने पर भी सम्पदा के, संचय की तृष्णा में फर्क नहीं डाला जाता है, मोह ऐसा लगा है, और जिस समय भी कदाचित् मरण हो गया तो फिर यहाँ का क्या अपना रहा? ये सब समागम तो किसी दिन छूटेंगे ही एकदम पूरे के पूरे। उससे पहिले अपने जीवन में सम्यग्ज्ञान जगाकर भेदविज्ञान के बल से अभी से ही अपने उपयोग में अपने को समस्त वैभव से छूटा हुआ मान लें और अपने स्वयं के, स्वरूपमात्र अपने को स्वीकार कर ले। तो इस परमार्थ की स्वीकारता में इसे शुद्ध आनन्द मिलेगा।

व्यर्थ व अनर्थक कल्पना—भला रातदिन चौबीस घंटे निरन्तर विकल्प-विकल्प में ही तो गुजर रहे हैं। किस समय पर वस्तुओं के विकल्प का त्यागकर आराम से बैठ पाते हैं। २४ घंटे विकल्पों में ही बिताने से कुछ सिद्धि भी हो सकेगी क्या? सिद्धि भी कुछ नहीं। जो होना होता है यहाँ, वह अपने भाग्य के अनुसार होता ही है। पर विकल्प मचाने के कारण, भारी सोच विचार करने के कारण सम्पदा की सिद्धि नहीं होती है। ये पञ्चेन्द्रिय के भोग के साधन विषयभूत पदार्थ स्वप्रवत् है, इनका सेवन भी स्वप्रवत् है, तात्त्विक बात कुछ नहीं है। कल्पनाएं जर्गीं और विवश हो गया। जैसे कामवासना को संस्कृत में मनोज बोलते हैं, अर्थात् चीज कुछ नहीं है, शरीर में कोई फोड़ा फुंसी हो गयी तो कहो कि भाई बड़ी वेदना है, यह बड़ी फुंसी हो गयी, पर कामवेदना में कहां वेदना भरी है? न फोड़ा है, न फुंसी है, न बुखार है, न खांसी है और कोई समय भी उसका नियत नहीं है, इसका नाम मनोज है। मन में भाव आया, विकल्प आया, विचार पैदा हुआ, लो कामवेदना जग गयी। है कुछ नहीं। तात्त्विक बात भी नहीं है, आधारभूत तत्त्व भी नहीं, लेकिन मन में ख्याल वेदना से पीड़ित हो गया। ऐसे ही ये पञ्चेन्द्रिय के विषय भी केवल कल्पना के ख्याल से सुख माने जाने के लिए बन गये हैं।

व्यामुग्ध प्राणियों का अविवेक—इन असार भिन्न विषयों से यह मोही जीव अपने आपके स्वरूप को न्यारा नहीं कर पाता है, और जो अन्तरंग में तरंगें उठ रही है, विचार बन रहे हैं उनसे भी न्यारा अपने आपको नहीं जान पाता है, यह अविवेक ही तो है। जैसे हाथी के आगे खाने के लिए हलुवा भी रख दो, घास भी रख दो तो उसे यह विवेक नहीं है कि घास को अलग खा लें और हलुवा को अलग खाकर उसका स्वाद लें। वह तो हलुवा और घास दोनों को लपेटकर खाता है। ऐसे ही यह अज्ञानी जीव ज्ञान और ज्ञेय का अलग विभाग नहीं कर पाता। ज्ञान का अर्थ है जो जानना है जानन की चीज ज्ञान है, ज्ञेय का अर्थ है जानन में जो बाह्य पदार्थ आता है वह ज्ञेय है, भोजनज्ञेय है और भोजनविषयक ज्ञान ज्ञान है। यह मोहो जीव इस ज्ञान को, उस ज्ञेय को एक साथ-लपेटकर स्वाद लेता है। इसको यह विवेक नहीं जग पाता कि मैं तो कल्पनाओं का स्वाद ले रहा हूँ, तदविषयक ज्ञान का अनुभवन कर रहा हूँ। भोजन अथवा रस तो मेरे आत्मा को छूता तक भी नहीं है। जैसे आकाश किसी पदार्थ को छूता नहीं है। आकाश में सभी चीजें पड़ी हैं, मगर आकाश को कोई छू नहीं सकता। कहां से छुये। आकाश में रूप रस आदिक है ही नहीं। आकाश की तरह ही निर्लेप अमूर्त यह आत्मा है। इस आत्मा को भोजन छूता तक भी नहीं है, फिर भोजन का हम

क्या रस ग्रहण करते हैं ? हां, हम में कला है कि हम भोजन सम्बन्धी ज्ञान कर लेते हैं । उस ज्ञान का तो हम स्वाद लेते हैं और मानते यह है कि हमने भोजन का स्वाद लिया । ज्ञान और ज्ञेय को एकमेक मिला कर यह मोही जीव अपना सुख बनाता है । यह अज्ञान है ।

पर्यायव्यामोह में परलोक की मान्यता का अभाव—इस मोही जीव को परलोक का भी भय नहीं रहा । जैसे इस भव में पुण्य पाप किए जा रहे हैं, इनका उदयकाल परभव में आयेगा, इसका इसे विश्वास नहीं है । भला एक बात तो बतलावो कि जैसे हाथ पैर मुँह नाक, आंख कान पुण्यवान् जीव के हैं वैसे ही हाथ पैर नाक आंख कान दूसरे गरीब के भी है । फर्क क्या हुआ कि यह रईस तो बैठे-बैठे ही थोड़े से श्रम से लाभ लेता है और यह गरीब लकड़ी घास जोड़ जोड़कर मुश्किल से ८ आने, १० आने दिन भर में कमाकर अपनी उदरपूर्ति करता है । यह अन्तर कहां से आ गया? कोई वैज्ञानिक या कोई ज्ञाता पंडित हाथ पैर की शक्ल सूरत देखकर बताये । यह अन्तर है पूर्वकृत पुण्य और पाप का । कदाचित् पाप का उदय भी चल रहा है? तो भी ज्ञानीपुरुष उस पाप की स्थिति को अपनाते नहीं है । ज्ञानी तो अपने आपके स्वरूप में घट में विराजमान् जो कारणप्रभु है, चैतन्यस्वरूप है उसको ही अपनाता है, उसमें अडिग श्रद्धा है । मैं सबसे न्यारा ज्ञान और आनन्द रूप हूँ । इस ज्ञानी जीव को परलोक का कोई भय नहीं है । किसी के चित्त में परलोक की श्रद्धा आ जाये तो उससे पाप न होगा । जो ऐसा ही मान रहे हैं, जो कुछ है हम यही तो है, मरने पर तो बिल्कुल ही मिट गए, वे पुरुष अन्याय पापप्रवृत्तियों से विराम नहीं ले पाते हैं । जियो सुख से, चाहे अन्याय करना हो, चाहे चोरी करना हो, चाहें धोखा देना हो, किसी भी प्रकार सांसारिक विषयसुखों में फर्क न आना चाहिए । उनकी यह बुद्धि होती है, जो परलोक की श्रद्धा से रहित है ।

व्यामोह में दयाहीनता—इन मोही जीवों को अपनी सत्ता में व परलोक में विश्वास नहीं होता । इस कारण ये दयाहीन भी रहते हैं । कोई जीव मांस का लोलुपी हो तो वह कुछ भी करुणा उस जीव की तड़फन में नहीं ला पाता है । ऐसा तीव्र मोह है, विषयों की अधिक अभिलाषा है जिससे उनके चित्त में दया नहीं समाती है । अरे जो मोही अपने आप पर दया नहीं करना चाहते, वे दूसरे जीवों पर क्या कर सकेंगे? खुद को भी विषयभोगों के भाड़ में भूनते चले जा रहे हैं । अपने आपके कल्याण के लिए दो क्षण भी कुछ चिन्तन नहीं करना चाहता । रात दिन परिग्रह की धुन में, वृत्ति में संचय के विकल्प बनाये चले जाते और धर्म के खातिर जो कि वास्तविक शरण है, मरने पर भी हमारे साथ न जायेगा, उस धर्म पर दृष्टि अत्यन्त गौण है । कमाने और गप्पों से कुछ समय मिल गया तो धर्म की भी खबर ले ली जाये ऐसा परिणाम रहता है और कोई तो धर्म की इतनी भी दृष्टि नहीं रखते । ये मोही प्राणी दयाहीन हैं । अपने आपको विषयकषायों से दूर रखना यही वास्तविक दया है । जिसमें ऐसी दया बसी होती है वह जीव बाहर में अन्याय नहीं कर सकता; हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह—इन ये पापों में आसक्त नहीं रह सकता ।

व्यामोह में कठोर परिणाम—मोही जीव अपने पाये हुए इस देह को ही यह मैं हूँ, ऐसा मानते हैं । इस देह से निराला चैतन्यस्वरूपमात्र में कुछ हूँ इस ओर जिसकी दृष्टि ही नहीं जाती, वह अज्ञानी कठोरपरिणामी

है। न अपने आपको यह कल्याणमार्ग में लगा पाता है और न दूसरों को यह कल्याणमार्ग में लगा पाता है। यही इसका कठोर परिणाम है। साधुजनों ने जिसको त्यागा है, जिससे ग्लानि की है ऐसे भोगविषयों को यह मोही जीव निरन्तर चाहता रहता है। इन भोगविषयों में प्रधान विकट कुत्सित भोग है तो है स्पर्शनइन्द्रिय सम्बन्धी।

विक धिक् कामभाव—एक राजा था। उसे कहीं कोई देव सिद्ध हो गया। उस देव ने उसे एक अमरफल दिया और कहा यह अमरफल है। इसे जो खायेगा वह चिरकाल तक जीवित रहेगा। राजा ने वह अमरफल अपनी रानी को दे दिया। रानी का चित्त एक कोतवाल से अनुरक्त था। रानी ने वह अमरफल कोतवाल को दे दिशा। कोतवाल का चित्त किसी वेश्या में अनुरक्त था। सो उसने वह फल वेश्या को दे दिया। वेश्या ने सोचा कि यदि यह फल राजा को दे दें तो मुझे बहुत इनाम मिलेगा। सो वेश्या ने राजा को वह फल दे दिया। राजा उस फल को देखकर पहिचान गया। छान बीन करने पर उसने सारा पता लगा लिया। सोचा ओह यह वही फल है जिसको हमने रानी को दिया था, पर इस तरह से यह वेश्या के हाथ पहुंच गया। तो राजा सोचता है—“यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता, साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः। अस्मत्कृते च परितुष्टति काचिदन्या, धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च ॥” ओह! जिस रानी को मैं बहुत चाहता था, वह रानी परपुरुष में आसक्त है, कोतवाल में और वह कोतवाल रानी में न आसक्त होकर वेश्या में आसक्त है। धिक्कार है रानी को, धिक्कार है कोतवाल को और धिक्कार इस कामभाव को व धिक्कार है मुझे, जो व्यर्थ ही रानी में आसक्त हो रहा हूँ। यह स्थिति है इस संसार की।

उच्छिष्ट भोगों की अरम्यता—साधुवों ने जिसको विष जानकर त्याग दिया, जिस विकार को संसार में भटकाने वाला समझकर छोड़ दिया उसको यह संसारी मोही प्राणी सेवन करता हुआ थोड़ी भी लाज नहीं करता है। जितने भी हम आपको सम्पदा विषयभोग के साधन, जो कुछ भी मिले हैं ये क्या बिल्कुल नये हैं? और इन सबको आप ही ने स्वयं अनेक भवों में भोग डाला है और छोड़ दिया है। ये सब आपके जूठे हैं और इतना ही नहीं, संसार के अन्य जीवों ने भी इन्हें भव-भव में भोग डाला है और छोड़ दिया है। यह सब उच्छिष्ट है। अपना ही जूठा भोजन बहुत देर का रक्खा हुआ खुद नहीं खाया जाता है। दूसरे का जूठा भोजन भी नहीं खाया जाता

पर ये समस्त भोग विषयसाधन ये अनन्त भवों के जूठे हैं। इन्हें यह मोह बड़े प्रेम से, अनुराग से सेव रहा है। कुछ भी अटक नहीं होती है। जिसका चित्त काम क्रोध आदिक कषायों के मोह ग्रहों के वश में हैं, पिशाचों के वश में हैं वह पुरुष क्या से क्या अनर्थ नहीं कर सकता काम की तीव्र वेदना के लिए तो कामी पुरुष क्या से क्या अनर्थ नहीं का सकता, और इसी तरह क्रोध की तीव्र वेदना हो तो क्रोधी पुरुष भी क्या अनर्थ नहीं कर सकता।

कषाय की भटकन—इन सभी कषायों के वश हुआ यह मोही प्राणी संसार में रुलता भटकता चला जा रहा है। इसके रुलने का कारण है मोह। सो ऐसे भटकता भी जाता और मोह भी करता जाता है। इस

मोह से विराम नहीं लेता । सब अकार्य काम करता है । अपने भी जीवन में देखो क्या-क्या नहीं चाहते हैं गृहस्थजन प्रायः एक विषय की पूर्ति के ही कारण तो कितना आरम्भ और परिग्रह अथवा विश्वासघात आदिक अनेक पाप करते जाते हैं, और उनमें चैन मानते जाते हैं । चैन होता नहीं है, दुःखी बने रहते हैं, पर चैन का कारण उन्हीं सब खोटी प्रवृत्तियों को मानते हैं ।

अभिलाषसंकटहरण का उपाय—ये विषय और कषाय अनर्थ की जड़ हैं । विषयों की अभिलाषा तीन लोक की सम्पदा भी मिल जाये तो भी पूरी नहीं होती । ये विषय ज्यों-ज्यों भोगे जाते हैं त्यों-त्यों वृद्धिगत होते जाते हैं । आत्मा का अनर्थ करने वाले ये विषय और कषाय हैं । इन पर विजय करना कल्याणार्थी का कर्तव्य है । इन पर विजय एक शुद्ध आत्मज्ञान से ही हो सकता है, जहाँ अपने को ज्ञानमात्र स्वीकार किया, वहाँ फिर यह विषय और कषायों की वासना नहीं जगती है । अपने को निरन्तर ऐसा मानने का यत्न करो कि मैं सबसे न्यारा, केवल अपने ज्ञान और आनन्द के स्वभावरूप हूँ । सहजस्वरूपमात्र अपने आपको स्वीकार कर लेने में समस्त संकटों का क्षय हो जाता है ।

श्लोक (५२)

श्वो यूस्याजनि यः स एव दिवसो ह्यस्तस्य संपद्यते ।
स्थैर्यं नाम न कस्यचिङ्गदिदं कालानिलोन्मूलितम् ॥
भ्रातर्भ्रान्तिमपास्य पश्यसि तरां प्रत्यक्षमक्षणोर्न किं
येनात्रैव मुहुर्मुहुर्वहुतरं बद्धस्पृहो भ्राम्यसि ॥ ५२ ॥

विनश्वर समागम से सावधान रहने का संबोधन—इस संसार का यह चारित्र क्षणभंगुर स्पष्ट दीख भी रहा है, तब भी यह जगत्, मोह के वशीभूत होकर पर को अपना रहा है और विषयों में अंध होकर अपने आपको जन्म मरण के बन में भटका रहा है । हे भ्रात ! देख तू भ्रम को छोड़ दे । क्या यह जगजाल भिन्न असार आंखों से प्रत्यक्ष नहीं दिख रहा है । यह जगत् इस कालरूप पवन के द्वारा निर्मूल किया जा रहा है । किसी का कोई मरने का टाइम नियत नहीं है । गर्भ में ही कोई मर जाये, जन्मते मर जाये, बचपन में, जवानी में कभी भी इसकी मृत्यु हो जाती है । किसी के भी स्थिरता का नाम नहीं है । जो जन्मता है सो अवश्य गुजरेगा । मनुष्य वही धर्म कर सकता है जो यह मान रहा हो कि मेरे तो सिर पर ही मृत्यु मंडरा रही है । न जाने कब यह दबोच दे, और इस देह को त्यागकर मुझे जाना पड़े ? जब तक ऐसी बुद्धि नहीं जगती है तब तक यह जीव धर्मकार्यों में श्रद्धापूर्वक नहीं लग पाता है ।

मोह की व्यर्थता—जिस दिन का प्रभात होता है उस दिन का अन्त भी होता है । यों ही जिसका जन्म होता है उसका मरण भी नियम से होता है । एक तो स्वयं के भी जीवन का विश्वास नहीं है और फिर इन परपदार्थों के संयोग का भी कोई विश्वास नहीं है । आज किसी पर का संयोग हुआ है, कल न रहे, कुछ ही क्षणों में इसका वियोग हो जाये । फिर संयोग भी रहे तो भी क्या फिर किसी पदार्थ में मोह करने से पूरा

पड़ेगा? मोह में परिचय मानते हैं दूसरे जीवों का, पर जैसे घर में जुड़े हुए दो चार द जीव हैं वैसे ही इस जगत् के अनन्ते जीव हैं। सब एक समान भिन्न है, प्रत्येक पदार्थ अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से अपना अस्तित्व रखता है। किसी का पर में प्रवेश ही नहीं है। कितना ही मोहभाव किया जाये, रागभाव किया जाये फिर भी कोई किसी में मोह नहीं कर रहे, किन्तु खुद ही अपनी कल्पना में राग बना रहे हैं।

वस्तु की निरपेक्षता—कुछ विवेकबल से काम लें तो यह स्पष्ट है कि समस्त वस्तु स्वतंत्र हैं। फिर भी यह पुरुष मोह में मस्त होकर परपदार्थों को अपना रहा है। कोई एक ही कार्य हो, उसमें कोई तो लाभ पाता है और कोई हानि पाता है। यह सब अपने-अपने उपादान का प्रभाव है। रात्रि होती है तो कमल तो मूँद जाते हैं और अनेक पुरुष, जो कामीजन हैं, वे अपने चित्त में मौज मानते हैं। रात्रि में कमलिनी खिल जाती है और कमल मूँद जाता है। कमलिनी एक और जाति का फूल होता है जिसको गृथ कर लोग माला बनाते हैं। इसे कुमुदिनी भी कहते हैं। कुमद मायने कमल और कुमुदिनी मायने कमलिनी। वह कमलिनी खूब रात्रि को विकसित होती है और कमल रात्रि को मूँद जाता है। चकवा चकवी का रात्रि के समय वियोग हो जाता है। चकवा उधर खेद मानता है, चकवी इधर खेद मानती है। रात्रि को उल्लू खुशी मानते हैं, उनको रात्रि में ही दिखता है। चीज एक है, समय एक है। कोई उस ही समय का ख्याल करके सुखी होता है, कोई दुःखी होता है।

भैया ! सुख और दुःख का कुछ भरोसा भी नहीं है। श्रीरामचन्द्र जी का जब राज्याभिषेक हो रहा था, क्या किसी की कल्पना में था कि एक आध घंटे बाद ये सब कुछ छोड़-छोड़कर बन को चल देंगे। न उनको स्वयं को विकल्प था, न उनके पिता को विकल्प था। बस राज्याभिषेक होने का समय था। कैकेई ने दशरथ से अपना स्वीकृत वर मांग लिया। उस समय दशरथ खुद विरक्त होकर साधु होना चाहते थे, उसी प्रसंग में राज्य नहीं दे रहे थे, दशरथ के साथ भरत भी विरक्त होने जा रहे थे, तब कैकेई ने यह सोचकर कि पति भी गया और पुत्र भी गया, इस कारण ऐसा वरदान मांग लें कि पुत्र तो यहाँ रह जाये पति तो रहेंगे नहीं, दीक्षा ही लेंगे। तब कैकेई ने वर मांगा कि राज्य भरत को दिया जाये। वचनानुसार भरत को राज्य देना निर्णीत हो गया। तब राम ने यह सोचकर कि मेरे रहते हुए भरत का प्रताप न बढ़ सकेगा, उसे राजकाज में यश न मिल पायगा, इसलिए नगरी छोड़कर अपने को जंगल जाना ही श्रेयस्कर है। लो ये सब राज्य की खुशियां अब इस रूप में बदल गयी। यहाँ भी तो किसी घर में देखा जाता है कि सुबह तो पुत्र के उत्सव का कैसा समारोह मनाया जा रहा है और शाम को जच्चा बच्चा की तबीयत बिगड़ गयी और लो, गुजर गया, तो वे सब खुशियां शोक के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। यह समस्त जगत् क्षणभंगूर है। इस क्षणभंगूर लोक में तू क्यों भ्रम करके किसी पदार्थ के संयोग पर इतना हर्ष मान रहा, बेहोश हो रहा है?

समर्वती परेतराट—भैया ! मृत्यु का नाम यमराज भी है। कोष में यमराज का नाम समर्वती व परेतराट भी बताया है। समर्वती का अर्थ है सबको समान दृष्टि से देखने वाला। चाहे बालक हो, जवान हो, बूढ़ा हो यमराज किसी में यह पक्ष नहीं करता कि अभी यह बालक है, अभी इसे कैसे हरा जाये? बूढ़े को पहिले हरा

जाये, ऐसा पक्ष मानों, इस यमराज के नहीं है। वह सबको एक समान दृष्टि से निरखता है। चाहे बालक हो, चाहे जवान हो और चाहे बूढ़ा हो, किसी को भी वह हर लेता है। अर्थात् मृत्यु का कुछ विश्वास नहीं है। बालक भी मर जाये, जवान भी मर जाये, बूढ़ा भी मर जाये। आयु के क्षय का काई नियत टाइम नहीं है, इसे परेतराह भी

बोलते हैं। परेत मायने शमशान, राट् माने राजा। यह यमराज, परेतराट् है, मरघट का राजा है।

यथार्थ ज्ञान में निराकुलता—भैया ! इतनी क्षणभंगुरता इस जगत् में आंखें भी देख रही है, फिर भी चित्त में नहीं समाती कि इन विषयों में ही फंस-फंसकर अपना कौनसा उत्थान कर लेंगे, धन का संचय ही कर करके हम अपने आत्मा का कौनसा उद्घार कर लेंगे ? गृहस्थावस्था है, सब कुछ करना पड़ता हैं फिर भी जो यथार्थ स्वरूप है उस ओर से मुँह न मोड़ना चाहिए। प्रत्येक पदार्थ स्वतःसिद्ध व पूर्ण स्वतन्त्र है। फिर मेरा किसी अन्य से क्या सम्बन्ध ? समस्त परपदार्थों से विविक्त व अपने एकत्व में तन्मय निज अन्तस्तत्त्व का परिज्ञान करो। सम्यग्ज्ञान के रहते हुए इस गृहस्थ को भी निराकुलता अन्तरङ्ग में रहेगी। मिथ्या अन्यकार में तो कोई निराकुल रह ही नहीं सकता।

ध्रुवतत्त्व के आलम्बन की दृष्टि—जगत् में जो कुछ भी दिख रहा है अथवा जो कुछ सत् है, वह द्रव्यदृष्टि से तो ध्रुव है, किन्तु पर्यायदृष्टि से अध्रुव है। ये पर्याय, ये देह, ये सकल सूरतें सब नियम से मिटेगी, किन्तु इनका मूल आधारभूत जीवतत्त्व और पुद्गल अणु, इनका कभी भी तो विनाश न होगा। हम क्षणभंगुरता की बात कहकर स्थिर जो आत्मतत्त्व है, उस तत्त्व तक न पहुंचे तो अनित्य का गान गाना भी हमारे लिए क्या लाभ देगा? सब मरते हैं तो ठीक है, अब हमें क्या करना चाहिए? जो कभी नहीं मरता है ऐसा जो अंतस्तत्त्व है, ज्ञानस्वरूप है, उसका ही तो आलम्बन लेना चाहिए। यह लक्ष्मी बड़े-बड़े पुण्यवान् चक्रवर्तियों के भी शाश्वत नहीं रही, फिर जो पुण्यरहित हम आप लोग है, उनके तो रहेगी ही क्या?

गृहस्थ विचार—गृहस्थ कभी तो केवल धर्म में अपनी प्रवृत्ति करता है। जैसे दशलाक्षणी के दिनों में दो चार दिन के लिए उपवास करना, गृह की ममता त्यागना, रोजगार आदि भी न करना, मंदिर में ही रहकर धर्मसाधना करना—ऐसा सब प्रकार से निष्पाप जीवन व्यतीत करना चाहता है। कभी तो यों धर्ममय स्थिति बनती है और कभी पापात्मक स्थिति बनती है और कभी पुण्य पाप दोनों साथ चला करते हैं। यह चर्चा गृहस्थ आश्रम की करी जा रही है। गृहस्थ को गृहस्थधर्म भली प्रकार निभाते हुए भी आत्महित के लिए उद्यम करना चाहिए। गृहस्थ अपने आश्रम को, धर्म को, परिस्थिति को निष्प्र श्रेणी का जानता है, इसमें सर्वथा हित नहीं है। उसकी ये सब प्रवृत्तियां विचाराधीन जैसी है। जैसे अंधा पुरुष रस्सी भाँजता है तो पीछे उकलती जाती है, उसे यह तो नहीं दिख रहा है, कि पीछे रस्सी उकल रही है। वह तो भाँजता जाता है। तो जैसे अंधा रस्सी को भाँजता जाता है पीछे उकलती जाती है, काम सिद्ध नहीं हो पाता, ऐसे ही गृहस्थ धर्म में भी कुछ धर्म किया, फिर पाप की बातें आयीं, फिर धर्म किया, फिर पाप की बातें हैं, यों यह गृहस्थ-आश्रम भी कोई विशेष फल को देने वाला नहीं है, ऐसा साधुजन सोच रहे हैं और गृहस्थजन भी तो सोचा

करते हैं ।

परिजनों का परिजन के आत्मा से अनुराग का अभाव—वस्तु का स्वरूप सिद्धान्त शास्त्रों में उत्पाद व्यय घौव्य से तन्मय बताया गया है । प्रत्येक पदार्थ निरन्तर रहता है और निरन्तर ही नवीन-नवीन अवस्थाओंरूप बनता है और उसकी वर्तमान दशा उस वस्तु में विलीन हो जाती है । अब व्यवहार जो व्यवहारी जीवों का है, वह पर्याय में चलता है । कोई मनुष्य किसी के भी अनुराग नहीं करता । जो देहमुक्त पर्याय है, व्यज्जन पर्याय है, इसमें ही ये राग किया करते हैं, क्योंकि आत्मा तो सब एक समान ही हैं । पिता पुत्र के आत्मा का ध्यान करके राग नहीं करता, किन्तु जो वह पुत्र है, विभाव व्यज्जन पर्याय है; देह, जीव और कर्म इन तीन का पिंडरूप जो यह मनुष्य पर्याय है, इसमें राग करते हैं । पर आत्मा क्या है? वैसे स्वरूप को निहारकर राग नहीं करता । किसी पिता को यदि पुत्र की आत्मा से राग होता है तो जैसे उसही आत्मा का उत्थान हो, सम्नार्ग मिले, वैसा उपाय रखता है । बजाये विवाह करने के या अन्य तृष्णा में फंसाने के धार्मिक विद्या पढ़ाता और उसे ब्रह्मचारी रहने के लिए प्रेरणा देता, ज्ञान के साधन जुटाता, किन्तु कौन पिता ऐसा करता है ऐसा पढ़ाओं जिससे यह कुछ धनार्जन कर सके और इसका शीघ्र विवाह करायें, जिससे अपने नाती पोतियों का मुख देख सकें, यह भावना रहती है । पुत्र की आत्मा का वास्तव में उद्धार हो और यह सत्य आनन्द ज्ञान का प्रकाश पाये—ऐसी भावना नहीं रहती है । कोई बहुत बड़े ही पुण्यवान् धार्मिक माता पिता होंगे जो अपने बच्चे की आत्मा के प्रति वास्तविक उपकार की भावना रखते हैं ।

बच्चे की आत्मा से अनुकरणीय अनुराग का एक उदाहरण—कुन्द-कुन्द मुनिराज बड़े प्रसिद्ध ऋषिसंत हुए हैं । शास्त्रों में जब मंगलाचरण को पढ़ते हैं—

मङ्गलं भगवान् वीरों, मङ्गलं गौतमो गणी ।

मङ्गलं कुन्दकुन्दाद्या, जनधर्मोस्तु मङ्गलम् ॥

वीर और गौतम गणधर को मङ्गलवाद कहकर तीसरी बार में मंगलं कुन्दकुन्दा द्या कहा करते हैं । कुन्दकुन्दाचार्यादिक आचार्य मङ्गल हों । ये कुन्दकुन्ददेव अध्यात्म के प्रकांड विद्वान् और अनुभवी ऋषि थे । जब इनका बचपन था, जबकि पालने में झूलने का समय था तो कुन्दकुन्दाचार्य को उनकी माँ पालने में झूलाती हुई आत्मतत्त्व के वर्णन करने वाले एक गीत को गाया करती थी—

शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरंजनोऽसि, संसारमायापरिवर्जितोऽसि ।

संसारस्वप्नं त्यज मोहनिद्रां, श्री कुन्दकुन्दं जननीदमूचे ॥

कुन्दकुन्द की माँ कुन्दकुन्द बच्चे को कह रही है कि हे बालक ! तू तो शुद्ध है, ज्ञानमय है, कर्मकलंक, भावकर्म से रहित है, संसार की माया से तू पृथक् है । संसार के स्वप्नों को, मोह की निद्रा को तू छोड़ दे—इस प्रकार का गीत उस कुन्दकुन्द की माँ उस कुन्दकुन्द बच्चे को सुना रही है । यह है जिसको सम्यक्त जग गया और किसी आत्मा के वास्तविक कल्याण की भावना जगे उसका कर्तव्य ।

मैया ! किसी का कोई कुछ करेगा भी क्या सब अपना-अपना भाग्य लिए हुए हैं, सब अपनी-अपनी सत्ता

लिए हुए हैं। कोई किसी दूसरे का अधिकारी नहीं है, न स्वामी है, न कर्ता है, न भोक्ता है। सर्व स्वतंत्र हैं। दिन रात के समय में कुछ भी मिनट अपनी स्वतंत्रता का ध्यान तो करना चाहिए। दूसरों की चिन्ता ही कर करके, विकल्पों को ही अपने लिए बना

बनाकर समय गुजारने से लाभ क्या मिलेगा? ये समस्त समागम क्षणभंगुर है, बबूला की तरह हैं। जो पानी में बनता है ना, अंदर की बूँद आने से वह बबूला कुछ देर तक ठहर जाये, इसमें तो आश्र्य मानों, पर बने और तुरन्त मिट जाये, इसमें क्या आश्र्य माना जाये? बबूले का तो स्वभाव ही कि बनकर तुरन्त मिट जाये। ऐसी ही प्रकृति है जन्म की। जन्म होने के बाद शीघ्र मरण हो जाता है। कोई बहुत देर तक जीवित रहता है तो यह है आश्र्य की बात।

सुविधा का लाभ उठाने का अनुरोध—हम आप आज अच्छी स्थिति में इतने समय तक बने हुए है। कल्पना करो कि आये थे न अनेक, ऐसे अवसर इस ही जीवन में, कि जीवित रहने की कोई आशा न थी, उस ही समय मर जाते तो क्या यह सामने आज होता? उस समय हम आप बच गए, आज इतनी सामर्थ्य में है कि ज्ञानबल भी हमारा उत्तम है तो इस सुविधा का लाभ हम क्यों न उठायें मोह में तो कुछ काम भी नहीं सरता। मोह ममता रखने से क्या एकदम धन बढ़ता जाता है या जो बात चाहते हैं उसकी सिद्धि हो ही जाती है? कुछ भी तो काम इस ममता से नहीं बन रहा है, फिर भी यह मोही जीव ममता किए बिना रह नहीं पाता।

परिजनों व मित्रजनों का अन्तिम व्यवहार—जरा अपने आपके सम्बन्ध में भी विचार करो। यह दिखने वाला देह, यह भी किसी दिन मित्र जनों और परिजनों के द्वारा ही भस्म कर दिया जायेगा। दो मित्रों में बड़ी मित्रता थी। एक मित्र दूसरे मित्र से बोला कि मैं तुम्हारा बड़ा सत्कार करता हूँ। मैंने कभी तुम्हारी बेअदबी नहीं की, किन्तु सुनिये—‘यार मरते वक्त होगा एक बेअदबी का कार। यार तो पैदल चलेंगे, हम जनाजे पर सवार !!’ ऐ दोस्त—अपनी जिन्दगी में मैंने तुम्हारा कोई अपमान नहीं किया विनय ही करते रहे, अदब ही करते रहे, लेकिन अब क्या होगा, मरते वक्त जरूर हम तुम्हारी बेअदबी करेंगे, क्योंकि तुम तो पैदल चलोगे और हम तुम्हारे सिर पर सवार होकर चलेंगे। ये परिजन मित्रजन इनकी तुम्हारे उपकार के प्रति इतनी ही कृतज्ञता है कि तुम्हारे बैरी इस तुम्हारे देह को शीघ्र ही जला देंगे। इनकी सेवा में जो तुम्हारा भाव गुजर गया है उसका फल तुम्हें ही मिलेगा। वे कुटुम्बी लोग, परिजन लोग तुम्हारा कुछ भी भला न कर पायेंगे। वे तो मरण होते ही इस तुम्हारे देह को शीघ्र ही जला देंगे। इससे आगे और कोई कुछ न करेंगे।

समागम की अनित्यता के निर्णय का लाभ—भैया! जैसे बिजली चंचल होती है, चमकी और थोड़ी ही देर में समाप्त हो जाती है, ऐसे ही यह सारा संयोग धन वैभव कुटुम्ब परिजन—ये समागम सब विद्युतवत् चंचल हैं, थोड़े समय को मिले हैं, फिर वियोग होगा। और भी देखो—मौज और संयोग के दिन जाने भी नहीं जाते हैं। दुःख विपदा आ पड़ी तो वह समय बड़ी मुश्किल से कटता है। जो जीव समागम में हर्ष

मानते हैं उनको ही ये दिन देखने पड़ते हैं कि वे विह्वल हो जाते हैं। पहिले से ही यह निर्णय किए रहो कि जो कुछ भी समागम मिले हैं वे नियम से शीघ्र ही बिछुड़ जायेंगे। ऐसा पहिले से ही निर्णय रहे तो बिछुड़ने के समय यह प्राणी विह्वल न होगा। उस समय वह यही सोचेगा कि हम तो पहिले से ही जान रह थे कि ये समागम किसी दिन बिछुड़ जायेंगे। जो जान रहे थे सो ही आज हो गया। यथार्थज्ञानी पुरुष विह्वल नहीं होता। विह्वलता मिथ्याज्ञान में ही होती है।

निर्वान्ति परिणति में क्लेश का अभाव—इस जीवन को दुःख रंच मात्र भी नहीं है। काहे का क्लेश ? जितनी भी चीजें हैं, जिस रूप है, उन्हें देख लीजिए, ये निर्बाध हैं, इनमें किसी परपदार्थ का प्रवेश नहीं है। समस्त परपदार्थों का मुझमें अत्यन्ताभाव है। मैं त्रिकाल भी पर के द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप हो नहीं सकता। यों स्वयं स्वरक्षित हूँ, आनन्दमय हूँ, ज्ञानप्रकाश ही मेरा स्वरूप है। मुझमें क्लेश का अवसर है कहां? पर ऐसे शुद्ध आनन्द घन सहजस्वरूप का ध्यान न करके नाना विकल्पों में हम फंस जाते हैं और परपदार्थों की अनुकूल प्रतिकूल परिणति देखकर हम दुःखी रहा करते हैं। हे आत्मन् ! तू भ्रान्ति तज, वस्तु का यथार्थस्वरूप जान। जो विनश्वर पदार्थ हैं, मिट जाने वाले समागम हैं, उन समागमों की क्यों अन्तरङ्ग से वाञ्छा कर रहा है? जो कुछ मिला है वह सब पञ्चेन्द्रिय के विषय का साधनभूत भोग है। इन भोगों में तू आसक्त मत हो और आत्मा का जो सहज ज्ञानानन्दस्वरूप है उसकी और रुचि कर। खुद के ही आलम्बन से समस्त संकट कट सकेंगे।

श्लोक (५३)

संसारे नरकादिषु स्मृतिपथेष्युद्वेगकारीण्यलं ।
दुःखानि प्रतिसेवितानि भवता तान्येवमेवासताम् ॥
तत्त्वावत्स्मर सस्मरस्मितशितापाङ्गैरनङ्गायुधे-
र्वामानां हिमदग्धमुग्धतरुवद्यत्प्राप्तवान् निर्धनः ॥ ५३ ॥

भोगाकर्षण का फल—इस जगत् को क्षणभंगुर न जानकर और अपने लिए हितकारी मानकर यहाँ के भोगों की ओर जिस जीव ने आकर्षण किया है उसने नरक आदिक खोटी योनियों में अनेक दुःख भोगे। हे आत्मन् ! तूने भी इस संसार में भ्रमण करते हुए नरकादिक योनियों में ऐसे कठिन दुःख भोगे हैं, जिनकी याद की जाये तो अब भी बड़ा उद्वेग हो जायेगा।

नारकियों में परस्पर दुःखों की उदीरणा—नरक गति में एक नारकी दूसरे नारकी को देखकर यों टूटता है, जैसे यहाँ भी एक कुत्ता दूसरे नये कुत्ते को देखकर टूट पड़ता है। पूर्व भव के वे चाहे मां बेटा ही क्यों न हों, नरक में उत्पन्न होकर वे परस्पर बैरी हो जाते हैं। उनको पूर्वभव का स्मरण भी आये तो उल्टे ढंग से स्मरण आता है। मां ने बचे की आंख में काजल लगाया हो, लेकिन नरकगति में नारकी को यह याद आयेगी कि इसने मेरी आंखों में अंगुली डाली थी और आंखें फोड़ने का यत्र किया था। सब उल्टा ही उल्टा

उन नारकी जीवों को बोध होता है। नारकी जीवों का शरीर वैक्रियक है। उन्हें तलवार आदि शस्त्रों के ढूँढ़ने की भी जरूरत नहीं पड़ती। उनके मन में आया कि मैं इस नारकी को तलवार से मार दूँ तो हाथ उठाते ही संकल्प करते ही तलवार की विक्रिया बन जाती है। उनकी इच्छा हुई कि मैं अमुक जीव को सांप बनकर डसूँ तो उनका ही शरीर सांपरूप विक्रिया को धर लेता है।

देह के खण्ड-खण्ड होने पर भी नारकियों की अकालमृत्यु का अभाव—नरकों में जो पेड़ हैं उनके भी पत्ते जिस नारकी पर गिर जायें, उस नारकी के शरीर के खण्ड-खण्ड हो जाते हैं। नारकी जीव भी नारकियों के शरीर के तिल-तिल बराबर टुकड़े कर डालते हैं, फिर भी पाप का इतना घना उदय है कि शरीर के तिल-तिल बराबर टुकड़े हो जाने से उन्हें तो मर जाना था, लेकिन वे टुकड़े फिर मिलजुल कर पारे की तरह एक रूप हो जाते हैं। ज्यों का त्यों फिर शरीर बन जाता है। उनकी बीच में आयु खत्म नहीं होती। संसार के जीवों में से नारकी ही एक ऐसे जीव हैं जो जल्दी मरना पसंद करते हैं, बाकी कोई जीव मरना पसंद नहीं करता और विचित्रता देखो मनुष्य पशु पक्षी ये जल्दी मरना पसंद नहीं करते, किन्तु अचानक ही मर जाया करते हैं। नारकी जीव मरना पसंद करते हैं लेकिन जितनी आयु बांधकर पैदा हुए है उस आयु से पहिले उनका मरण नहीं होता है। वहां के दुःखों का क्या ठिकाना है?

पापों के फल का भोग—जो मनुष्य यहाँ विषयों में अंधे हो गए, परम्परा सेवन का पाप कर गये, वे मरकर नरक में जन्म लें तो नारकी जीव तातो गरम लोई के खम्भ में उन्हें चिपकाते हैं और कहते हैं कि तू इससे भोग कर इससे मिल, ऐसे नाना कठोर वचन कहते हुए लोहे की गरम पुतली खम्भे में चिपकाते हैं। कोई मनुष्य मदिरा का शौकीन हो तो नरकगति में दूसरे नारकी गरम धातु रस यों समझिये जैसे कि लोहे को पिघलाकर पानी बना देवें ऐसा गरम धातुरस उनके मुख में जबरदस्ती डालते हैं, ले तुझे मदिरा का बड़ा शौक है, अब तू इसे पी ले। यों जो-जो भी कठिन पाप यहाँ किये जाते हैं उन सब पापों का फल नरकगति में यों भोगना पड़ता है।

भोगों की अभिलाषा का फल दुःसह दुःख—हे आत्मन् ! तूने इस संसार में नारकादिक योनियों के दुःख भोगे हैं, जिनका स्मरण आ जाये तो वह स्मृति कीली की तरह चुम्हती है। उन नरकों की बात तो दूर रही मनुष्यपर्याय में ही देख लो, कितने कठिन दुःख है। कोई अत्यन्त निर्धन है,, किसी को खाने पीने का भी कोई साजा नहीं है, हाथ पैर भी कोढ़ से गल गये हैं, लोग उन्हें अपमान भरे वचन बोला करते हैं। कठिन से कठिन विपदाएँ यहाँ मनुष्यों में ही देख लो। ये सब पाप के फल है। भोगों की अभिलाषा करने का यह फल होता है। पञ्चेन्द्रियों के जो न विषय है। उन विषयों की प्रीति का परिणाम अशुभ परिणाम है। इन विषयों की वाञ्छा के फल में ऐसा कठिन दुःख आ पड़ता है। जब इस जीव को अपने आपके स्वरूप का विवेक नहीं रहा है, जब यह जीव इस क्षणभंगर जगत् की माया में रुच रहा है, इस माया से भिन्न मैं कुछ स्वतंत्र सत् हूँ—इसका भान भी इसे न रहा तो इस माया के अनुराग के फल में नरक निगोद जैसी कुयोनियों में इसे दुःख भोगना पड़ता है।

विषयासक्ति से निगोदसम्बन्धी दुःख—नारकी जीव तो संज्ञी पञ्चेन्द्रिय है। निगोद जीवों की दशा इनसे भी बहुत विकट है। ये निगोद जीव एकेन्द्रिय होते हैं और एकेन्द्रिय होने पर भी इनका शरीर पराश्रित रहता है अथवा सूक्ष्म रहता है। एक श्वास में १८ बार जन्म और मरण हो जाता है। श्वास भी कौनसी? नीरोगपुरुष की नाड़ी जितने समय में उचकती है उतने समय का यहाँ श्वास जानना। एक श्वास के बराबर के समय में। निगोदिया जीव १८ बार जन्ममरण करता है। ऐसे निगोद के दुःख भी इस भोगाभिलाषी जीव ने मरकर निगोद बनकर सहे हैं।

उपलब्ध सुयोग के द्वुरूपयोग का परिणाम—देखो हे आत्मन! यह मनुष्यभव अत्यन्त दुर्लभ जन्म है। तूने विषयों की तृष्णा बढ़ायी है जिसके कारण सुख रंच भी नहीं प्राप्त कर सका है। जब तृष्णा लगी हुई है तो चित्त तो आगे के लिए है। पाये हुए समागम का फिर सांसारिक आनन्द भी नहीं रहा। काम के तीक्ष्ण बाणों से, काम से विकृत स्त्री जनों के कटाक्षों से जो आक्रान्त किए गए हैं वे मनुष्य कामवासना की दाह से झुलस गये हैं और झुलसे हुए वृक्ष की भाँति कुदशाओं को प्राप्त हो गये हैं। बड़े-बड़े सुभट दिग्गज सिंहों को मारने में कुशल है, परन्तु वे ही सुभट कामवासना के वशीभूत होकर स्त्री के समक्ष कायर बनकर आश लगाये फिरते हैं, ये विषय पञ्चेन्द्रिय के भोग इस जीव के मनोबल वचनबल और कायबल तीनों को हर लेते हैं। ये भोग आपातकालरमणीय है अर्थात् जब ये विषय भोगे जा रहे हैं उस काल तो ये सुहावने लगते हैं, किन्तु थोड़ी ही देर के बाद ये ही विषय इस जीव को कष्टकारी बन जायेंगे।

भोगाभिलाष के उत्पात—मैया! लोक में और है ही क्या? इस लोक में विषयों का ख्याल, विषयों का विवाद, एक देश दूसरे देश को हड़पना चाहता है, एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को हड़पना चाहता है। डाकू भी कुछ छीनकर जान भी लिए जा रहे हैं, कितनी-कितनी तरह के उत्पात हैं? यह तो मनुष्य की बात है। पशु और पक्षियों पर तो और भी बुरी बीत रही है। क्रूर जन जिन्दा ही सूकरों को अग्नि में भुन डालते हैं, अतिरुद्रों के द्वारा जिन्दा ही मछलियों पर छुरी चला दी जाती है। कुछ जरा विचारों तो अपने बारे में जरासा अत्यन्त पतला छोटा कांटा भी लग जाये तो उसकी बड़ी वेदना होती है, फिर जिसके गले पर छुरियां चलायी जाती है उनकी कौन जाने? उनके दुःख तो वे ही समझें। ये सब अनर्थ किसलिए हो रहे हैं? एक भोगविषय के पीछे। कितनी निर्दयता है? थोड़ासा रसना इन्द्रिय का काल्पनिक स्वाद उन मांसभक्षियों को मिल जाता है। ऐसे काल्पनिक मौजों के लिए उन पशु पक्षियों पर ऐसा प्रहार किया जाता है। कितना कठोर परिणाम है? यह विवाद, विडम्बना एक भोग विषय की इच्छा पर ही तो है। इन कुकर्मों का फल बहुत बुरा तरह से भोगना पड़ता है।

शान्ति के अर्थ भोगपरिहार की अनिवार्यता—देखो, अपने सहजस्वरूप को मैं भोगविषयों की वाच्छा से रहित हूँ। यदि यथार्थ केवल सहजस्वरूप का ज्ञान बना सके, जिसके ज्ञान में भोगसम्बन्धी इच्छा रंच भी न रहे तो विकल्पों का बहुत बड़ा बोझ टल जायेगा। जहां इन्द्रिय का बोझ टला कि अपने आपके आत्मा में ही अपूर्व आनन्द जग जायेगा। शुद्ध आनन्द की पूर्ति

के लिए भी इन विषयभोगों का परित्याग करना अत्यन्त आवश्यक है। इस जीव को कष्ट है कहां? खुद ही अज्ञानता से विषयों की चाह की और उस चाह की दाह में यह जल उठा, दुःखी हुआ। इस आत्मा में क्लेश है कहां? अज्ञान से परविषयक कल्पनायें उठा उठाकर क्लेशी बन रहे हैं। इस जगत में क्या कभी किसी की वाञ्छा पूरी हुई है?

तृष्णा का क्लेश—जैसे प्यासा हिरण रेतीली सूखी नदी में खड़ा हो वह दूर दृष्टि डालता है तो उसे चमकीला रेत पानी की तरह नजर आता है जिससे मृग दौड़कर वहाँ पहुंचता है, दौड़ने की थकान और बढ़ गयी, प्यास और बढ़ गयी, निकट पहुंचने पर देखा तो वहाँ पानी कहाँ रक्खा है? फिर ऊपर को मुँह किया देखा तो दूर की रेत पानी जैसी मालूम पड़ी, वहाँ दौड़कर गया तो देखा कि पानी का नाम नहीं है। इसही प्रकार दौड़ लगा लगाकर वह हिरण अपने प्राण गंवा देता है। ऐसे ही यह संसारी प्राणी नवीन-नवीन कल्पनाएँ करके विषयों में सुख समझ रहा है। ओह! ऐसे साधन जुटाएं तो उसमें अच्छा आनन्द आयेगा, ऐसा रसीला भोजन बनाकर खावें, ऐसा प्रतिष्ठा का काम करें तो शान्ति मिलेगी, पर शांति संतोष नहीं मिल पाता है, क्योंकि तृष्णा उससे भी अधिक यश की बन जाती है, अथवा दूसरों का विशेष परिग्रह देखकर उसके भी परिग्रह की कामना हो जाती है। तृष्णा के कारण यह जीव सुख से खा पी भी नहीं सकता है। तृष्णालु पुरुष जो मिला है उसे भी तृष्णा के वश भोग नहीं सकते हैं।

तृष्णा में मानसिक क्लेश—इस मनुष्य ने विषयों की तृष्णा के वश होकर स्वर्ण, चांदी, रत्न आदि इन जड़ वैभवों को सुख का कारण माना है और चैतन्य पदार्थों में स्त्री पुत्रादिक को सुख का कारण माना है। इनका बड़ा अभिलाषी हुवा है, पर लाभ कुछ नहीं मिला। जरा-जरासी घटना पर स्त्री से विवाद हो जाया करता है। पुत्र के प्रति तो कभी-कभी मन न मिलने से या किसी एक भी आज्ञा का उल्लंघन करने से परस्पर में बैरभाव जग जाता है। इन परिग्रहों से लेशमात्र भी शान्ति नहीं मिलती। ये परपदार्थ दुःख के कारण नहीं, किन्तु परपदार्थों की ओर मोहीजनों का जो आकर्षण होता है वह आकर्षण दुःख का कारण है। अभिलाषा हुई कि दुःख आ गया। इच्छा के अनुसार चीज न मिले उसका दुःख, कभी कुछ चीज मिल जाये तो जितनी मन में चाह है उतनी न मिले तो उसका दुःख है। कदाचित् मन की चाही हुई चीज भी मिल जाये तो उसमें भी मन की स्थिरता नहीं है, उससे भी अधिक की यह चाह करने लगता है। तृष्णा के वश हुआ यह जीव सदा ही दुःखी रहता है।

षड्विध विषयतृष्णायें—तृष्णा ६ प्रकार की हुआ करती है—एक स्पर्शन इन्द्रिय की तृष्णा, सुहावने कोमल शीतल उष्ण पदार्थों का स्पर्श और उससे भी भयंकर कामवासना के वश होकर स्त्री पुरुष सम्बन्धी सम्पर्क की वासना, ये स्पर्शन इन्द्रिय के भोग है। रसना इन्द्रिय का भोग स्वादिष्ट पदार्थों का भक्षण, वह चाहे दोषयुक्त पदार्थ हो, चाहे हिंसासाध्य पदार्थ हो, वह न्याय से मिले या अन्याय से मिले, किसी भी प्रकार हो, इसका सेवन करना यह है रसना इन्द्रिय का विषय। ग्राणइन्द्रिय का विषय है इत्र फुलेल सुगंध का सेवन होना। चक्षुइन्द्रिय का विषय है सुंदर रूप का निरखना और राग-रागनी प्रशंसा संगीत के शब्द सुनना कर्णइन्द्रिय का

विषय है और छठा विषय है मन का । मेरा यश फैले, दुनिया मुझे जान जाये, यह है मन का विषय । इन ५ इन्द्रिय और मन के विषय में वाश हुआ यह मुग्ध प्राणी निरन्तर व्याकुल बना रहता है ।

भोगियों को भी भोगों की असारता का परिचय—ये सभी विषय असार है । इनकी असारता भोगने के बाद सब विदित हो जाती है । जैसे भोजन कर चुकने के बाद, स्वादिष्ट मिठाई खा लेने के बाद, फिर मिठाई का महत्व समझ में नहीं रहता, और वह असार ज्ञात होती है । कभी-कभी तो यह ख्याल होता है कि न मिलती खाने को तो अच्छा था । अब पेट में अफारा चढ़ा है, और-और प्रकार के रोग हो गए हैं । भोग के बाद भोगों की असारता मालूम होती है । सभी इन्द्रियों के भोग भोगने के बाद असारता मालूम होती है । ये यदि अधिक मिलें तो फिर यहाँ ही सुगंधों को सुहाते नहीं हैं । स्पर्शन इन्द्रिय का विषय कान रात दिन भोग सकता है ? समागम मिलें तो फिर वे सुहाते नहीं हैं । भोगने के लिए अनेक प्रकार की रसीली वस्तुयें सामने रखखी हों तो फिर वे सुहाती नहीं है । थोड़े से गंध के लिए दिल चाहता है, मगर खूब सुगंधित इत्र फुलेल वगैरह कुछ चीजें इकट्ठी नाक में घर दी जायें तो फिर वे सुहाती नहीं है । कदाचित् कभी कोई सुन्दररूप देखने में आये तो सुहाता है और आंखों के सामने ही धर दिया जाये तो कहां तक आंखों की पलक खोलकर देखने का श्रम किया जायेगा ? फिर रूप का देखना भी सुहाता नहीं है । इन भोगों की असारता भोगने के बाद प्रायः सबको विदित हो जाती है ।

देह की अशुचिता—रूप में मोहियों को रुचिकर दूसरों का देह लगता है । देह क्या है? ऊपर चाम की चादर मढ़ी है । भीतर हड्डी, मांस, मज्जा, रक्त, पीप आदि का ढेर है । और तो जानें दो । कितना ही सज धजकर, चमकीला बनकर कोई बैठा हो, पर नाक से नकेऊ की बाती निकल पड़े तो उसके देखने तक को भी जी नहीं चाहता । अपवित्र चीज जो शरीर के अन्दर पड़ी हुई है, उसका स्मरण रहे तो शरीर का रूप फिर सुहावना प्रतीत नहीं हो सकता । ये विषय असार है । यह मान भोग को भोगने के बाद होता है । भोगने से पहिले ही असारता विदित हो तो जीव का बड़ा कल्याण है ।

विषयसेवन की विडम्बनायें—भोग भोगने से भोग से विराम नहीं मिलता, किन्तु तृष्णा बढ़ती है । देखो एक-एक इन्द्रिय के वश होकर भिन्न-भिन्न जीवों ने अपने प्राण गंवाये । हाथी ने स्पर्शन इन्द्रिय के वश होकर, गड्ढे में गिरकर प्राण गंवाए, मछली ने रसना इन्द्रिय के वश होकर अपना कंठ कील में चुमोकर प्राण गंवाये, भंवरे ने घ्राणेन्द्रिय के वश होकर कमल में बंद होकर अपने प्राण गंवाये, नेत्र इन्द्रिय के वश होकर पतंगों ने दीपक में जलकर अपने प्राण गंवाये और कर्णइन्द्रिय के वश होकर सांप हिरण आदि ने अपने प्राण गंवाये । ये जीव एक-एक इन्द्रिय के वश होकर मरण दशा को प्राप्त हुए, फिर मनुष्यों की तो बात सोचो । इनके पीछे पांचों ही विषय बड़े तेज लगे हुए हैं । राग रागनियों के सुनने का भी यह तीव्र लोलुपी है । रूप देखने, गंध सँघने आदि का यह तीव्र लोलुपी है, रसों का भी यह विशेष लोलुपी है, कामवासना का तो यह कीड़ा बन गया है । ऐसे वे इन्द्रिय के वश हुआ यह मनुष्य कैसे संसारसमुद्र से तिरेगा?

ज्ञानस्वभाव के आदर का अनुरोध—हे आत्मन् ! अपने स्वरूप को निरखों, जो निष्काम है, किसी भी

विषय की बाधा जहाँ नहीं है—ऐसे अपने आनन्दघन स्वरूप को निरखकर विषयों की अभिलाषा को छोड़ दो। आनन्द का कारण तो वीतराग भाव है, रागद्वेष न करके मात्र ज्ञाताद्रष्टा रहना है। इस ज्ञानभाव का आदर करो। ज्ञानमात्र मैं हूँ, निर्दोष शुद्ध केवल प्रतिभासात्मक हूँ—ऐसा अनुभव करो, परपदार्थों की प्रीति छोड़ो, इसमें ही कल्याण है।

श्लोक (५४)

उत्पन्नोऽस्यसिदोषधातुमलवद्देहोऽसि कोपादिवान् ।
साधिव्याधिरसि प्रहीणचरितोऽस्यस्यात्मनो वशकः ॥
मृत्युव्यात्तमुखान्तरोऽसि जरसा ग्रास्तोऽसि जन्मिन् ! वृथा ।
किं मत्तोऽस्यसि किं हितारिरहिते किं वासि बद्धस्पृहः ॥ ५४ ॥

देह की अपनायत का फल—अनन्ते ही जन्मों के धारण करनहारे हे मूढ़ जीव ! तू ने इन संसार विषयों को अनेक योनियों में पाया और महा दोषों से भरे, मल मूत्रादिक से गर्भित इस देह को भी प्रेमपूर्वक अपनाता रहा। इस देह की अपनायत का ही यह फल है कि जन्म मरण की परम्परा चलती रही। लोग जन्मते समय बड़ी खुशी मनाते हैं, पर जन्म, मरण से भी खोटी चीज है इस ओर दृष्टि नहीं देते। मरण समय तो मनुष्य की बुद्धि सावधान रह सकती है, किन्तु जन्म समय में बुद्धि सावधान नहीं रहती। मरण तो समतापूर्वक हो सकता है, पर जन्म समतापूर्वक नहीं होता है। मरण के बाद तो निर्वाण हो सकता है, पर जन्म के बाद निर्वाण नहीं होता। इस जन्म से जो प्रेम करता है उसे जन्म मिलते रहेंगे।

जीव पर त्रिदोषसन्निपात—जीव के साथ तीन प्रकार के दोष लगे हुए हैं। एक तो शरीर, एक कर्म और एक रागादिक विभाव। इन तीनों में से दो तो परद्रव्य हैं—शरीर व कर्म, और विभाव स्व में उत्पन्न हुए औपाधिक भाव है। इन तीनों में से दो तो परद्रव्य है। इन तीनों से आच्छादित यह जीव जन्म के बाद मरण, मरण के बाद जन्म, यों जन्म और मरण की परम्परा बढ़ाता चला जाता है और इस बीच में ऋग, मान, माया, भोग भोगों की अभिलाषा, मन की चिंता और शरीर की व्याधियां, इनसे यह जीवन पीड़ित रहता है। एक सहज शुद्ध निजस्वरूप के दर्शन के बिना ये सारी विडम्बनाएं अपने पर उपस्थित रहती हैं। इसी कारण इस केवल निजस्वरूप की दृष्टि के लिए न इसकी बुद्धि चलती है और न रुचि जगती है। सारा जीवन का समय विषयों के साधन जुटाने में व्यतीत होता है, किन्तु विषयों के साधन जुटा जुटाकर न तो किसी ने आज तक लाभ पाया और न कभी कोई पा सकेगा।

मूल की भूल पर संसार विषवृक्ष का विस्तार—इतिहास में बड़े-बड़े बादशाह हुए। उन्होंने अपने जमाने में बड़ा रोब फैलाया, जिनके मरघट या कबर पर उनकी यादगारी के लिए बड़े-बड़े महल खड़े हुए हैं। जो उन्होंने अन्याय किया, पाप किया, विषयों का साधन फैलाया, ये सब उनके अगले भव में साथ देंगे। यह जीव अपनी अयोग्यता के कारण हीन आचरण की ओर जल्दी झुकता है, अभक्ष्य का भक्षण, अयोग्य आचरण

करके यह दुराचारी बन रहा है। यह नहीं समझता कि मैं अपने आपको ठग रहा हूँ। सारी भूल तो मूल में यह है कि अपने स्वरूप को भूलकर परपदार्थी में अपनायत की बुद्धि लगायी है। है स्वयं स्वयंरूप, पर उपयोग में पररूप अपने को मान लेता है। बस इतनीसी मूल में भूल होने के कारण संसार-विषवृक्ष इतना बड़ा खड़ा हो गया है। हे जीव ! तू जन्म मरण के चक्र में पड़ा हुआ है, बुढ़ापे से ग्रसित है। व्यर्थ ही क्यों अभिमान से उन्मत्त हो रहा है ? तू अपने कल्याण का शत्रु बन रहा है और अकल्याण में अपनी इच्छा बांध रखी है, जिस प्रवृत्ति से चल रहा है यह परमार्थ लाभदायक नहीं है।

मोह में यथार्थ अपमान पर खेद का अभाव—भैया ! दूसरे के द्वारा कभी कोई अपमानभरी बात सुनने में आए तो वह आगबबूला हो जाता है और खुद नाना कुयोनियों में जन्ममरण करता फिर रहा है। इतना बड़ा अपमान हो रहा है, इस अपमान को मिटाने की दृष्टि नहीं जगती। इन समस्त संसरणों का मूल कारण है कुबुद्धि। हम अपने आप में संतोष करना नहीं जानते। यह स्वयं संतोष करने लायक है क्योंकि आनन्दघन है। स्वयं अपने आप में अपने महत्व का संतोष नहीं जग रहा है तब बाहरी पदार्थों में हितबुद्धि करके यह तृष्णा में बढ़ रहा है, पर तृष्णा से कभी भी पूरा पड़ा है क्या?

शरीर की प्राप्ति और मुक्ति का उपाय—शरीर पाते रहने का और शरीर से छुटकारा पाने का मूल उपाय बहुत छोटासा है। यदि शरीर पाते रहने की अभिलाषा है तो शरीर को आत्मा मानते रहें। यदि मुक्त होने की अभिलाषा है तो इस शरीर से न्यारा ज्ञानमात्र आनन्दस्वरूप अपने आपको निरखें। अब यह निर्णय करलो और हितपूर्ण रुचि बना लो कि मुझे चाहिए क्या ? शरीर मिलते रहें, इनसे मेरा हित है या शरीर मुझे मिले नहीं, मैं शरीर के बिना ही जैसा सत् हूँ तैसा रहा आऊँ, इसमें हित है। विवेक करने के बाद यह निर्णय आ ही जाना चाहिए कि मैं शरीर से मुक्त रहकर केवल अपने स्वरूप ही रूप रहना चाहूंगा। इस संसार में कहे का सुख है? जहाँ सर्वत्र अस्थिरता ही नजर आ रही है। यह सारा जगजाल अस्थिर है। ऐसे इस लोक में कहां सुख मिल सकता है? संसार में कौनसी स्थिति ऐसी है जो इस जीव को लाभमय हो

|

नारकी और स्थावर जीवों के क्लेश—जीव की चार ही तो गतियां हैं—नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव। नरकगति में तो दुःसह दुःख ही दुःख है। जिसके दुःख श्रवण करने मात्र से रोंगटे खड़े हो जाते हैं। तिर्यञ्च के दुःख तो यहाँ प्रत्यक्ष नजर आते हैं। तिर्यञ्च में है पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति; दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पशु पक्षी आदि पंच इन्द्रिय। इन सबके क्लेश प्रकट देख रहे हैं। पृथ्वी को खुदालियों से खोदते हैं, सुरंगों से तोड़ते हैं, वह भी जीव है और उस जीव पर ऐसा प्रहार किया जाता है, पर पृथ्वीजीव किससे फरियाद करे? वह क्लेश सह करके मरण करती है और फिर वहीं की वहीं या अन्यत्र उत्पन्न हो जाती है। जल स्वयं एकेन्द्रिय जीव है, उसे गरम करना, बिलोरना, भाप बनाना ये सारी बातें होती हैं। क्या उस जल को कष्ट नहीं होता है? अग्नि को बुझा दिया, वायु को रबड़ में भर दिया या बिजली के पंखों से बिलो दिया। वनस्पति को तो छेदने भेदने की अनेक बातें होती हैं। वे एकेन्द्रिय जीव हैं। गृहस्थ

जन इनका त्याग नहीं कर सकते, इसलिए वे किया करते हैं। लेकिन जीव को जो दुःख होता है वह तो दुःख है ही।

कीटादिकों के कष्ट—ये ५ प्रकार के जीव मांसरहित हैं और पृथ्वी, जल, अग्नि वायु में तो निगोदिया जीव रहते ही नहीं हैं, किन्तु मांस वाले जितने देह हैं उन देहों में अनन्त निगोदिया भी बसा करते हैं, और इतना ही नहीं, इस मांस के आश्रय से अनेक उसही जाति के जिनमें कि मांस है जीव उत्पन्न होते रहते हैं। इस तरह मांस वाले देह के भक्षण में अत्यन्त अधिक दोष है, किन्तु जीव तो पृथ्वी जल आदिक भी है। मांस वाले जीवों के घात से अनन्त जीवों का घात होता है और दो इन्द्रिय आदिक त्रस जीवों का घात होता है, पर इन एकेन्द्रिय के घात में अनन्ते का घात नहीं होता और त्रस का घात नहीं होता। अन्तर इतना ही मात्र है, पर जो वह जीव है, वह तो मिट गया। कीड़े मकौड़ों का क्लेश देखो, इन्हें कौन बचाता है? कौन लट आदिक कीड़ों से प्रेम करता है? कोई विशेष धर्मात्माजन ही इन कीड़े मकौड़ों की रक्षा कर पाते हैं।

पशु पक्षियों के क्लेश—पञ्चेन्द्रिय में पशु पक्षियों की अवस्था देखो। मोहीजों ने कसाईखाना बना रखा है, मशीनों का भी आविष्कार है जिसमें थोड़ी ही देर में सैकड़ों पशु एक साथ कट जाते हैं। जब तक उन पशुओं में बल है, जब तक वे किसी काम में आते हैं तब तक बड़े प्यार से पाले जाते हैं। दूध देने वाले जानवर कैसे प्यार से पाले जाते हैं, पर वे जब वृद्ध हो जाते हैं, किसी काम के नहीं रहते हैं तो हत्यारों के हाथ बेचकर उनका गला कटा देते हैं। कौन उनसे प्रीति रखता है? यही हालत पक्षियों की भी है।

तृष्णावश मनुष्यों के क्लेश—यह संसार दुःखों से भरा हुआ है अनेक जीवों की अपेक्षा हम आप बहुत सुखी हैं पर अपने को कोई सुखी परखता ही नहीं है। कैसे परखें? तृष्णा साथ में लगी हुई हैं। अतः उसमें उसको दुःखी होना प्राकृतिक है। कर्तव्य तो यह है कि सम्पदा के संचय का भाव न बनाएं, भाव यह बनाएं कि मेरे धर्मभाव बढ़े। धन की तो यह बात है कि जो कुछ होगा उसही में गुजारा कर सकते हैं। हममें ऐसा साहस है, कला है, पर धर्मभाव हमारा वृद्धिगत हो, मुख्य ध्येय यह ही होना चाहिये। पौदगलिक समागम की वृद्धि की भावना न रखें। धन सम्पदा के बढ़ाने की भावना रखने से क्या सम्पदा बढ़ जायेगी? न बढेगी। भावना रखना चाहिए आत्मकल्याण की।

दृढ़निर्णयपूर्वक धर्मपालन की आवश्यकता—मैया! कुछ-कुछ आदत तो है धर्म करने की हम सबकी, तभी तो कभी-कभी घर छोड़कर तीर्थयात्रा में आते हैं, सत्संगति में समय लगाते हैं, धर्म के लिए अनेक दान और व्यय भी करते हैं, आदत तो है, पर एक दृढ़तापूर्वक निर्णय होकर यह चीज बने तो लाभदायक है। कुलपरम्परा से अथवा अधर्मभाव करने में ऊब आ जाती है, उस ऊब को मिटाने के लिए या कुछ लौकिक व्यवहार में धर्म करने से कुछ कीर्ति और इञ्जत रहती है आदिक अनेक कारणों से काम यह ही किया जाये तो यह मूल में लाभ नहीं देता है। इतना दृढ़ निर्णय होना चाहिए कि हमारा जीवन धर्मपालन करने के लिए हैं, वैभव बढ़ा बढ़ाकर रखा जाने के लिए नहीं है। कौनसी बुद्धिमानी है इसमें? चिन्ता करके, पाप करके अपने को आकुल व्याकुल बनाकर सम्पदा जुड़ गयी और चले गए इस भव से, अब तो तेरे लिए यहाँ सब

गैर ही हो गये ।

परिजनों की भिन्नता—यह मोही प्राणी जिन्हें आज अपना परिजन मानता है, इस भव के क्षय के बाद तेरे लिए तो ये गैर है, अब परिजन नहीं रहे, तुझे क्या लाभ मिलेगा? पूर्वभव में भी जो लोग थे, वे

यदि आज आपके सामने भी आ जायें तो आपके लिए गैर है, उनके संकट पर ऐसी करुणा न जगेगी जैसी कि आज के भव में मिले हुए परिजनों के प्रति करुणा जगती है । इष्ट चीज में करुणा जगाना धर्मभाव नहीं है, मोह भाव है । जिसे मानते हैं कि मेरा है उनमें मोह जगता है । कैसा नाटक करते चले जाते हैं और उसमें ही मस्त बने रहते हैं ।

विषयवाङ्छावों की व्यथायें—देखो इस भव में काम-व्यथा, स्वादिष्ट भोजन के मौज पाने की व्यथा और शेष भी इष्ट-विषयों की भोगने की व्यथा ये ही तो सब लिए हुए हैं । काम-व्यथा के विषय की बात सुनो—जिस देह में रुचि करता है यह मोही, वह देह ऊपर से नीचे तक अशुद्ध वस्तुओं से भरा हुआ है । पर यह काम पिशाच अपना नाच करता है । तो इसे सुध नहीं रहती है । ये देह हड्डी मांस मलमूत्र चाम से भरे हुए हैं । भला होता कि नाक के जो दो दरवाजे हैं इनमें सदा नाला बहता रहता तो ये जन मुग्ध न होते । यह देह स्पष्ट मलों का पिंड है और फिर इस मल पिंड देह से अपना माथा रगड़ कुछ लाभ भी तो नहीं पाता । विषयाभिलाषी मनोबल, वचनबल, कायबल ये सब खत्म कर देता है । सभी विषयों में ये ही सब हानियां हैं, फिर भी यह जीव विषयों से विराम नहीं लेता है ।

यशोवाङ्छा की व्यथा—यश कीर्ति फैलाने की बात तो बड़ी अविवेक भरी है । अरे ३४३ घनराजू प्रमाण यह लोक है, जिस विस्तार के आगे यह पाया हुआ हजार पांच सौ मील का क्षेत्र कितनी गिनती में है? जरा से क्षेत्र में मोहियों के द्वारा कुछ यश की बात कमा लो तो आगे विशाल क्षेत्र पड़ा है । मरकर न जाने कहां उत्पन्न हुए, फिर कहां तेरा यश रहा? ये सब प्रलोभन है, इन प्रलोभनों में जो पतित हो जाता है वही पुरुष संसार में रुलता रहता है, किन्तु जो प्रलोभनों से ठगे नहीं जाते हैं उन्हें लोग पागल कह कहकर निन्दा करते हैं तो भी वे अपने सत्यथ से विचलित नहीं होते हैं ।

आन्तरिक कर्तव्य का निर्णय—मैया! जिसमें शान्ति हो, कषाय मंद हो, आनन्द का अनुभव हो वह काम करना चाहिए । वह काम है ज्ञाता द्रष्टा रहने की स्थिति । ऐसा बल बढ़ा लें कि ऐसी घटना होने पर भी जिसमें कि प्रायः सब लोग आकुल व्याकुल हो जाएँ, क्रोध करें, अपमान महसूस करें उन घटनाओं का भी यह केवल जाननहार रहे । सांसारिक विषम परिस्थितियों में भी कोई भव्य जीव अपनी सुध रखकर प्रसन्न रहें, तब यह धर्मधारण करने का एक अधिकारी पूर्ण पात्र बनता है । हम ऋषि संतों के अनुभव का लाभ उठायें, अपने आपका निर्णय करके उस मार्ग में चलने का पूर्ण संकल्प बनाएँ, दुनिया कुछ कहो । शाश्वत ज्ञानानन्दघन आत्मतत्त्व की आस्था से हम धर्मसाधना करें तो अवश्य पूर्ण शान्ति मिलेगी ।

श्लोक (५५)

उग्रग्रीष्मकठोरधर्मकिरणस्फूर्जदग्भस्तिप्रभैः ।
 संतप्तः सकलेन्द्रियैरयमहो संवृद्धतृष्णो जनः ॥
 अप्राप्याभिमतं विवेकविमुखः पापप्रयासाकुल-
 स्तोयोपान्तदुरन्तकर्दमगतक्षीणोक्षवत् क्लिश्यते ॥ ५५ ॥

तृष्णालु की परिस्थिति—यह संसारी प्राणी इस वृत्ति से चल रहा है जैसे कि कोई बैल प्यासा पानी की चाह से किसी सरोवर की ओर जाये, जिस सरोवर के किनारे बड़ा दलदल कीचड़ है, वह कीचड़ में ही फँस जाये और फँसा हुआ ताकता रहे कि वह पानी है, प्यास भी लगी है, पर वह असमर्थ है । सो जैसे प्यास बुझाने की इच्छा से सरोवर की ओर गया हुआ बूढ़ा बैल कीचड़ में फँस जाये तो जो परिस्थिति उसकी है वैसी परिस्थिति संसारीजनों की है । यह संसारी प्राणी भी तृष्णा से व्याकुल है । इसकी तृष्णा है तृष्णा । जैसे तृष्णा के बढ़ाने वाली ग्रीष्मकाल के सूर्य की प्रचंड किरणें होती हैं ऐसे ही तृष्णा को बढ़ाने वाली ये इन्द्रियां हैं । इन्द्रियों पर बड़ी है तृष्णा जिसके, ऐसा यह अविवेकी पुरुष मनोवाञ्छित विषयों को भोगने चला, पर विषयों का भी सुख नहीं ले पाया अर्थात् कोई वास्तव में मौज भी नहीं ले पाया और बड़ी विपदा में फँस गया ।

तृष्णा के क्लेश के कुछ उदाहरण—जैसे कल्पना करो कि कोई नवयुवक अपनी तृष्णा बुझाने के लिए एक वैवाहिक उद्यम से पीड़ित है, सो चाहता तो यह था कि हमारा जीवन सुखमय व्यतीत होगा, पर जैसे ही उस गृहस्थी में पग रक्खा वैसे ही आपत्ति तो बढ़ गयी और शान्ति संतोष कुछ भी नहीं मिला । यही हालत संसारी जीवों की हो रही है । जो बात अपने अनुभव की है वह बात तो स्पष्ट समझ में आ जाना चाहिए । आप जिस परिस्थिति में हैं, यह परिस्थिति न मौज मानने लायक है और न घमंड करने लायक है । तृष्णा करके व्याकुल हो रहे हैं । क्या कोई १०-५ आदमी कमेटी बनाकर यह निर्णय दे सकते हैं कि कितना धन हो तो तृष्णा न होगी या कितना वैभव हो तो उसको धनी कहा जायेगा ? हमारे ख्याल से तो इसका निर्णय हो नहीं सकता । लोग सोचते हैं कि मुझे इतना धन मिल जाये तो सुख ही सुख रहेगा, फिर कोई कष्ट न होगा, लेकिन उतना प्राप्त हो जाने पर उससे आगे का दिखने लगता है, इतना और हो तो सुख मिलेगा । ऐसी तृष्णा के कारण लोग पायी हुई सुविधा में भी आराम नहीं ले पाते, क्योंकि मन तो आगे के लिए दौड़ रहा है । यह संसारी प्राणी मौन के ख्याल से, शान्ति के ख्याल से जो कुछ प्रयास करता है वह पाप का प्रयास करता है । सब दुःखों की जड़ यह तृष्णा है ।

पाप के बाप का एक प्रश्न—एक पुरुष काशी विद्यालय से पढ़कर घर आया । शारी उसकी हो गयी थी । घर पर आकर अपनी स्त्री से बढ़-बढ़कर बातें करने लगा । मैं ऐसा पंडित, ऐसा विद्वान् हूँ । मैंने इतने सिद्धान्तशास्त्र पढ़े हैं, इतनी डिगरियां हासिल कर ली हैं । तो स्त्री धीरे से पूछती है कि हमें एक शंका है । क्या आप उसका उत्तर दे सकते हैं वह घमंड से बोला—हां हां, मैंने बड़े-बड़े दिग्गज विद्वानों को परास्त किया

है इतनी छोटी उमर में ही स्त्री पूछती है बतावो पाप का बाप क्या है ? अब पंडित जी ढूँढ़ने लगे पोथी पत्रों में, कहीं वही शब्द मिल जाये—कहीं भी जब वे शब्द लिखे हुए न मिले तो सोचा कि गुरुजी ने और तो सब कुछ पढ़ा दिया है पर एक छोटासा नुक्का बताना छोड़ दिया है । अब मैं गुरुजी के पास जाऊंगा और उनसे इस प्रश्न का उत्तर पूछकर आऊँगा । चल पड़े काशी की ओर । जब शहर के किनारे पहुंचे तो बहुत रात्रि हो गयी थी । वहाँ एक महल बना था उसके चबूतरे पर सो गये ।

पाप के बाप का उत्तर—पंडित जी सुबह जगे तो आगे के लिए चलने को सोचा । इतने में मकान की मालकिन नीचे आयी और देखा कि विप्रदेव हमारे महल पर आए हैं पुण्योदय से और यों ही बिना खाये जा रहे हैं । मकान मालकिन ने कहा—अरे विप्र महाराज ! कुछ खा पी करके यहाँ से जाइए ऐसे न जाइए । उसने पूछा कि तुम कौन हो ? वह बोली—मैं वेश्या हूँ । वह मकान उस ही वेश्या का था । तो पंडित जी बोले—अरे रे रे, इस चबूतरे पर मैं सो गया तो इसका भी पाप अब मिटाना पड़ेगा, प्रायश्चित्त लेना पड़ेगा, खाने की बात तो दूर रही । वह बोली—महाराज आप व्याकुल मत हो आपके इस प्रायश्चित्त के यज्ञ में कितना खर्च होगा ? ये ले लीजिए २५ मोहरें अपना प्रायश्चित्त दूर कर लेना । भोजन तो आप यही करके जाइए । सामान आप मंगा लो या हम दे दें फिर आप बनावो खावो । उसने सोचा चलो २५ मोहरें मिल रही हैं यही बना खा लें, क्या होता है । जब उसने चबूतरे पर भोजन बनाने की तैयारी की तो वेश्या कहती है महाराज जैसी जमीन यह चबूतरे की है वैसी ही जमीन भीतर मैं है, आप देख लो कोई हर्ज नहीं है । महाराज ! भीतर बना लीजिए और उसमें अगर कोई दोष लगे तो ये २५ मोहरें ले लीजिए, प्रायश्चित्त कर लेना । पहुंच गया वह भीतर और अपने आप भोजन बनाने लगा तो वेश्या कहती है महाराज—आप क्यों हाथ जलाते हो, आपके तो सारे फटे हाथ है, तुमसे भी बढ़िया हमारे हाथ हैं हम बना दें आप भोजन खावो और यदि उसमें कोई दोष लगता हो तो ये २५ मोहरें ले लो, प्रायश्चित्त कर लेना । उस वेश्या ने रसोई बनायी । जब भोजन करने बैठा तो वेश्या बोली—महाराज आपने हम पर बहुत बड़ी दया की । अब अन्तिम निवेदन है कि आप हमारे हाथ से कौर ले लो और उसमें जो दोष हो उसके निवारण के लिए ये २५ मोहरें ले लो । उसने सोचा कि बनाया तो इसी ने है अब इसके हाथ से खाने में क्या होता है? सो कहा ठीक है, खिला दो अपने हाथ से । अब उसने जहाँ खाने को मुँह बाया कि वेश्या ने दो तीन तमाचे जड़ दिये और कहा—अरे बुद्धनूथ ! यही पाप का बाप है । काशी जा रहे हैं आप, पाप का बाप पूछने । क्या अर्थ निकला इसका ? लोभ पाप का बाप बखाना है ।

काल्पनिक कलेश के कारण उचित सुविधा भी अनुपयोग—देखो सभी अपने-अपने इस देह में बंधे हुए दुःखी हो रहे हैं । और दुःखी होने के लायक किसी की स्थिति नहीं हैं । अरे खाने पीने, गुजारा करने लायक स्थिति है । सबकी सुबह शाम धर्म की बात मिलती है, मित्रता होती है । मानसिक संकटों को हरने के लिए ये परमागम शास्त्र है, कौनसी यहाँ दुःख की बात है? मान लो कि हाँ हमें दुःख हैं क्या ? जितनी आय है उतने से काम नहीं बनता । तो तुम जैसे हाथ पैर वाले और तुम्हारे जितने संतान वाले तो सभी हैं ।

कोईसा भी गरीब से भी गरीब परिवार देख लो सब जिन्दे हैं कि मर गए । देख लो गुजारा उनका चलता है या नहीं । जीवन में सत्कार्य है धर्म करने में, शोक शान बढ़ाने में नहीं है, विषयभोगों में नहीं है, सांसारिक यश प्रतिष्ठा में नहीं है । यह सब मायाजाल है । जैसे स्वप्न में देखी हुई चीज स्वप्न में झूठ नहीं लगती है ऐसे ही मोह में दिख रहे ये सब नाना दृश्य क्या कर्मी झूठ लग सकते हैं? जैसे स्वप्न की बात झूठ है ऐसे ही यह दृश्यमान् सब मायाजाल झूठ है । ये सब समागम नष्ट होते हैं । उद्यम करो सम्यग्ज्ञान के लिए । जो बात हम आप में आत्मा के आधीन नहीं है, वैभव कमाना, संचय करना उसके पीछे व्यर्थ में नाना विकल्प और श्रम बढ़ाये जा रहे हैं और जो बात हमारे आत्मा के आधीन है—शान्ति पाना, आनन्द पाना, ज्ञानानुभव करना, संकटों से मुक्त हो जाना, वास्तविक प्रसन्न रहना, ये सब जो आत्मा के आधीन बातें हैं ये कठिन लग रही हैं ।

सत्प्रयत्न का स्मरण—भैया ! एक बार भी तो निःसंकट शुद्ध अन्तस्तत्त्व के अनुभव का यन्त्र कर लो । अपना उपयोग सब बाह्यपदार्थों से भिन्न असार जानकर उपेक्षा कर दो, उनसे मोह छोड़ दो और अपने आपके सहज स्वरूप पर दृष्टिपात करो । क्यों व्यर्थ में हैरान हो रहे ऊधम मचाकर कि जगत् के अनन्त जीवों में से एक झौंपड़ी में बसे हुए चार छः जीवों को छांट लिया कि ये मेरे हैं और श्रद्धापूर्वक छाटा, बाकी सब गैर हैं । अरे, जितने जीव हैं वे सब अनेक बार तेरे परिवार के बंधु हो चुके हैं । जो-जो भी कीड़े मकोड़े दिख रहे हैं वे सब भी किसी भव के तुम्हारे भाई बन्धु हैं । जिन्हें आप मान रहे हैं कि ये मेरे हैं, इस भव के व्यतीत होने के बाद जिन्हें हम आज गैर मानते हैं वैसे ही ये भी गैर कहे जायेंगे । फिर क्यों इनमें मुग्ध होते चले जा रहे हैं? एक क्षण तो आत्मा में विश्राम लें और मोक्ष का मार्ग प्राप्त करें, ज्ञान की बात सुनने में आये, ज्ञान की बात जानने में आये, ज्ञान की ही बात चर्चा में आये, चर्या में ऐसा जीवन ढले तो बहुत कुछ विश्राम मिलेगा । इसके लिए जो आन्तरिक तपश्चरण करना होगा, वह तपश्चरण है ज्ञान भावना का ।

अहंकार और ममकार की विकट व्याधि—जगत् के जीवों ने चार प्रकार के विकल्पों से अपने पर कष्ट का बोझ अपने सिर पर ढाया है । वे बोझ हैं—अहंकार, ममकार, कर्तृत्वबुद्धि और भोक्तृत्वबुद्धि । जो मैं नहीं उसे मानना मैं, यह तो है अहंकार । देह मैं नहीं हूँ और मान रहे हैं मैं यह हूँ यह है, अहंकार । हम नाम वाले नहीं और मानते रहे कि हम अमुक नाम वाले हैं यह अहंकार ही तो है । नाम के साथ कुछ अपना सम्पर्क जुटा हुआ है क्या ? वे तो अक्षर हैं । उनमें से कोई अक्षर पहिले लिख दिया, कोई अक्षर बाद में लिख दिया तो उसमें क्या विशेषता की बात हो गयी? जो मैं नहीं हूँ उसे मानें कि मैं यह हूँ तो यही है अहंकार । इससे यह जीव परेशान है । जब इसके बुद्धि आती है कि मैं बाप बन गया हूँ तो इसे अनेक चिन्ताओं का शिकार बनना पड़ता है । जब इसके चित्त में आ गया कि लो अब मैं त्यागी हो गया हूँ तो इसे त्यागी जैसी अपनी कला खेलनी पड़ती है । चित्त में आ गया कि मैं साधु हो गया हूँ तो साधु जैसी चेष्टा करनी पड़ती है । सम्यग्ज्ञान वह है जिसके प्रताप से साधु हो जाने पर भी मैं साधु हूँ, ऐसी श्रद्धा नहीं रहती है । उसकी श्रद्धा है कि मैं एक शाश्वत चैतन्यस्वभावमात्र सत् हूँ नाम, पोजीशन, इञ्जत् आकार प्रकार इन सब

रूप जो बुद्धि होती है वह बुद्धि अहंकार है। इस अहंकार से पीड़ित हुआ यह संसारी प्राणी चतुर्गति में भ्रमण कर रहा है। जगत् के प्राणियों को दूसरा रोग लगा है ममकार का कि यह मेरा है। और तेरा तो देह तक भी नहीं है। यह देह भी मेरे साथ नहीं जाता। अन्त में इस देह को तजकर ही जाना होता है। और फिर इष्ट जनों को, वैभव को, मकान को इनको मान रहे हैं कि ये मेरे हैं।

कर्तृत्वबुद्धि की व्याधि—तीसरा रोग है कर्तृत्वबुद्धि का। अज्ञानीजन मैंने किया, मैं कर रहा हूँ, मैं करूँगा, यह बुद्धि लिए रहते हैं। यहाँ तक कि कोई उपकार के काम में भी कोई संस्था का पद दे दिया जाये तो उसका दिमाग फिर कर्तृत्वबुद्धि में लग जाता है। घर में रहते हुए कर्तृत्वबुद्धि में रंगा हुआ है—मैंने किया, और भरी सभा में खड़े होकर कोई सभ्य पुरुष नहीं बोल सकता है कि मैंने यह धर्मशाला बनवायी, मैंने यह काम किया। अगर कोई ऐसा बोले तो लोग उसे असभ्य कहेंगे। जो बात चार जनों में भी बोली जा नहीं सकती है, उस कर्तृत्वभरे अभिप्राय की बात श्रद्धा में हो तो वह कैसे शान्ति देगी—मुझे करने को यह काम पड़ा है। काम करने से शान्ति नहीं मिलती है, किन्तु मेरे करते को कोई काम नहीं पड़ा है—यह बुद्धि की जाये तब शान्ति मिलती है, कोई बड़ा काम कभी कर लिया तो काम की शान्ति नहीं है। उस समय जो मन में यह बात बैठी हुई है कि मेरे करने को अब कुछ नहीं है, उसकी शान्ति है।

अकरणीयता का सन्तोष—जैसे किसी मित्र का आपके पास पत्र आया कि मैं ४ बजे की गाड़ी से आ रहा हूँ, स्टेशन पर मिलना तो वह एक दिन पहिले से ही चूँकि उसे मिलने का काम पड़ा है ना तो उसके मन में व्याकुलता है। वह बड़ी जल्दी-जल्दी सारे काम करता है। स्टेशन पर बड़ी जल्दी पहुंचता है। स्टेशन मास्टर से गाड़ी के आने का समय पूछता है अगर स्टेशन मास्टर ने बता दिया कि आज गाड़ी १० मिनट लेट है तो वह दुःखी हो जाता है। जब गाड़ी प्लेटफार्म पर आ गयी तो वह इधर उधर डिब्बे में देखता है। जब किसी डिब्बे में वह दिख गया तो उसके पास पहुंच गया। एक मिनट तो खूब गले से मिलकर खूब मिला। अब डेढ़ मिनट के बाद ही झांकने लगा कि हरी झांडी तो अभी नहीं दिखाई जा रही है। गाड़ी चलने को तो नहीं है। और मित्र से मिलने का सुख होता है तो मिलते ही रहो। वह सुख मित्र से मिलने का नहीं है, किन्तु मुझे मित्र से मिलने का काम पड़ा है—ऐसी कल्पना थी तब तक क्लेश था। खूब अच्छी तरह सोचते जाइए। अब जब उसका मित्र से मिलने का काम नहीं रहा तो शान्ति आ गयी।

ज्ञानियों का शान्तिसाधक निर्णय—मैया! प्रत्येक काम की यही बात है कि कार्य के होने से शान्ति नहीं मिलती, किन्तु मुझे कार्य करने को अब नहीं रहा इस भाव की शान्ति है। प्रत्येक काम में घटाते जाइए छोटे से लेकर बड़े तक। संसारी प्राणी विषयसाधनों को भोग करके शान्ति चाहते हैं। मन के माफिक कोई बात हो जाये तो उस काम के होने से उसे शान्ति नहीं मिली, किन्तु उस कार्य के होने पर जो यह भावना बनी कि अब मेरे करने को कार्य नहीं रहा, इस भाव की शान्ति है। ज्ञानीजन तो यह सदा ही निर्णय बनाये रहते हैं कि जगत् में मेरे करने को कोई भी कार्य नहीं पड़ा है। मैं मैं हूँ, पर पर है, मेरा किसी से वास्ता नहीं है। मैं अपने में अपने लिए अपने द्वारा अपने भाव का कर्ता हूँ, इसके आगे मेरी गति नहीं है। खुद के

परिणमन से, निमित्त-नैमित्तिक योग से स्वयं उनके उपादान से हो रहे हैं ।

भोक्तृत्वबुद्धि की व्याधि—चौथा रोग है भोक्तृत्वबुद्धि का? मैं भोग रहा हूँ, मैं भोजन भोग रहा हूँ । ध्यान से समझने की बात है । मैं रूप रस गंध, स्पर्श रहित चैतन्य आत्मतत्त्व हूँ । उसमें भोजन चिपक भी सकता है क्या? जरा बहुत अंतः मर्म पर दृष्टि डालकर सुनना है । प्रश्न—नहीं भोजन चिपक सकता तो भोजन के चबाने में फिर यह बोध कैसे हो जाता कि यह मिट गया है? उत्तर—भाई रसना इन्द्रिय के निमित्त से यह आत्मा भोजन सम्बन्धी ज्ञान करने लगता है । यह जरूरी नहीं है कि वह भोजन मुख से चबाया जाये तब ही ज्ञान हो सके । भोजन बाहर पड़ा हो, न छुये तो भी ज्ञान हो जाता है, पर यह वीतराग होने के बाद का बात है । जो देह के बंधन में बद्ध है उसको तो इन्द्रिय के निमित्त से ज्ञान होता है । इस आत्मा ने रसना इन्द्रिय के निमित्त से भोजनविषयक ज्ञान को किया और उस ज्ञान के साथ ही राग को भोगा, भोजन को नहीं भोगा । यह उपचार से कहा जाता है कि मैंने भोजन भोगा । यों ही सब पदार्थों की बात है । आप केवल कल्पना करते हैं, अपने को भोगते हैं, बाहर में कुछ नहीं भोगते ।

शान्तिसन्देशमय अनुशासन—भैया! इस मुग्ध जीव को आसक्ति लगी है ना, सो इसे शुद्ध विधि का परिज्ञान नहीं रहता और अनाप-सनाप मान्यता करके यह जीव दुःखी हो जाता है । जैसे बूढ़ा बैल गया तो प्यास मिटाने, एक छोटे सरोवर की ओर, पर कीचड़ में फंस गया । सो फंसा-फंसा दुःखी हो रहा है । प्यास भी नहीं बुझा पाता । ऐसे ही यह संसारी प्राणी पापों का प्रयास करके विषय के साधनों में रलमिल कर गया तो था अपनी तृष्णा की दाह बुझाने, मगर फंस गया । विकल्प और तृष्णा भी नहीं बुझी यह स्थिति है संसारी जीवों की संसारी जीवों को दुःख से छुटाने के लिये उन सुखार्थी जनों पर इस आत्मानुशासन ग्रन्थ में अनुशासन किया जा रहा है । यों चलो, यों मत चलो । आचार्यदेव ने यहां सम्यग्ज्ञान का कर्तव्य दिखाया है और विषयों से विमुख होकर, आत्मा की ओर झुककर प्रसन्न रहने का संदेश दिया है ।

॥ इति आत्मानुशासन प्रवचन द्वितीय भाग सम्पूर्ण ॥